Year-72, Volume-3
July - Sept. 2019

RNI No. 10591/62
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की समीक्षित शोध पत्रिका

ANEKANTA

A Peer Reviewed Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages

अतिप्राचीन श्री आदिनाथ भगवान, अहिंसा मन्दिर, दरियागंज

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110002

आचार्य श्री विद्यासागर महाराज से विचार-विमर्श
करते हुए संपादक डॉ. जयकुमार जैन एवं अन्य विद्वद्गण

वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा आयोजित बैठक
में जैन दर्शन परिभाषा कोश बनाने हेतु सम्मिलित विद्वद्गण

Year-72, Volume-3
July-Sept. 2019
RNI No. 10591/62
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANTA

(A Peer Reviewed Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक/ Editor
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)
मो. 08512059089, 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110002

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANTA

(A Peer Reviewed Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Founder

Pt. Jugalkishore Mukhtar 'Yugveer'

श्री भारतभूषण जैन, अध्यक्ष

श्री विनोदकुमार जैन, महामंत्री

Sh. Bharatbhushan. Jain, President

Sh. Vinod Kumar Jain, Gen. Secretary

सम्पादक मण्डल

प्रो. डॉ. राजाराम जैन, नोएडा

प्रो. डॉ. वृषभ प्रसाद जैन, वर्धा

प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर

डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत

श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Editorial Board

Prof. Dr. Rajaram Jain, Noida

Prof. Dr. Vrashabh Prasad Jain, Wardha

Pracharya Dr. Shital Chand Jain, Jaipur

Dr. Shreyans Kumar Jain, Baraut

Sh. Roopchand Kataria, New Delhi

Prof. M.L. Jain, New Delhi

पत्रिका शुल्क/ Journal Subscription

एक अंक- रुपए 25/- वार्षिक- रुपए 100/-

Each issue - Rs. 25/- Yearly - Rs. 100/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता-

वीर सेवा मन्दिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

All correspondence for the journal & Editorial

Vir Sewa Mandir (A Research Institution for Jainology)

21, Ansari Road, Darya Ganj, New Delhi-110002

Phone No. 011-43671985, 23250522, 09311050522

email : virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं। सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

मत कीजो जी यारी, यह भोग भुजंग सम जान के

भुजंग डसत एक बार नसत हैं, ये अनन्त मृतुकारी,
विसना,-तृपा बढे इन सेपे, ज्यो पीवे जल खारी। मत..

रोग, वियोग शोक बन को धन, समता लता कुठारी,
केहरि, फरी-अरी न देस ज्यों, त्यों ये दें दुख भारी। मत..

इनसे रचे देव तरू थाये, पयो शुभ्र मुरारी,
जे विरचे ते सुरपति अरचे, परचे सुख अधिकारी। मत..

परधीन धिन मांहि छीन हैं, पाप बंध करतारी,
इन्हें गिने सुख आक मांहि सिन, आम्र तनी बुधिधारी। मत..

मीन मतंग, पंतग, भृंग नृप, इन वश भये दुखारी,
सेवत ज्यों किंपाक ललित, परिपाक समय दुखकारी। मत..

सुरपति, नगपति, खरपति हू की, भोग न आस निवारी,
''दौल'' त्याग अब भज विराज सुख, ज्यो पावे शिवनारी। मत..

-पं. दौलतराम जी

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1. संपादकीय	-डॉ. जयकुमार जैन	5-7
2. युगवीर-गुणाख्यान (उपवास)		8-12
3. आधुनिक जीवन में कर्म-सिद्धान्त की प्रासंगिकता	-डॉ. कमलेशकुमारजैन	13-19
4. संवर और निर्जरा अनुप्रेक्षाओं का शास्त्रीय चिन्तन	-डॉ. श्रेयांस कुमार जैन	20-28
5. आत्मसाक्षात्कार में कायोत्सर्ग का महत्त्व	-डॉ. योगेश कुमार जैन	29-36
6. Substance Independency (वस्तु स्वातन्त्र्य) in Samayasara	-Dr. Dileep Dhing	37-46
7. देवदर्शन का महत्त्व	-डॉ. जयकुमार जैन	47-51
8. मेवाड़ के जिनालयों में सामाजिक पक्ष	-डॉ. मीना बया	52-57
9. जैन धर्म में वर्णित कल्की एवं उपकल्की की अवधारणा	-डॉ. अनिलकुमार जैन	58-66
10. आचार्य श्री विद्यासागर विरचित चैतन्य चन्द्रोदय में सर्वज्ञ विचार	-डॉ. बाहुबलि कु. जैन	67-79
11. जैन धर्म आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में	-डॉ. अनिलकुमार जैन	80-95
12. विख्यात जैन कवि कैलाश मड़बैया पद्मश्री से अलंकृत	-डॉ. आलोककुमारजैन	95-96

संपादकीय

आर्यिका दीक्षा :

'अनेकान्त' जनवरी-मार्च 2019 वर्ष 72 अंक 1 के संपादकीय में सम्पादक मण्डल के सदस्य डॉ. श्रेयांस कुमार जैन बड़ौत एवं मैंने संयुक्त रूप से लिखा था कि प्रथमानुयोग के साहित्य में आर्यिका के संस्कार किये जाने के यद्यपि अनेक उल्लेख मिलते हैं, तथापि चरणानुयोग विषयक साहित्य में कहीं भी आर्यिका द्वारा आर्यिका को दीक्षा देने अथवा संस्कार करने का समर्थन नहीं किया गया है। आज अनेक आर्यिकायें आर्यिका के संस्कार कर रहीं हैं, जबकि उनका संस्कार उनके आचार्य परमेष्ठी ने ही किया है। गणधर/आचार्य द्वारा ही आर्यिका के संस्कार किया जाना चरणानुयोगी आगम से सम्मत है। आज जो आर्यिकायें आर्यिका के संस्कार कर रही हैं, क्या यह चरणानुयोग सम्मत है? क्या श्रमणाचार विषयक किसी शास्त्र में ऐसा अनुशासन किया गया है? विद्वानों से अनुरोध है कि वे इस संदर्भ में शोध-खोज करें तथा चरणानुयोग के संदर्भ खोजें। आचार्य परमेष्ठियों से कोटिशः नमोऽस्तु पूर्वक विनम्र प्रार्थना है कि वे अपना स्पष्ट आदेश दें कि आगमानुसार आर्यिका आर्यिका के संस्कार कर सकती है या नहीं? एक ओर तो आचार्य परमेष्ठी आर्यिकाओं को स्वयं संस्कार करके दीक्षा प्रदान कर रहे हैं और दूसरी ओर उन्हें भी अपना आशीर्वाद प्रदान कर रहे हैं जो आर्यिकायें आर्यिकाओं को दीक्षा दे रही हैं। ये दोनों बातें एक साथ कैसे संभव हैं? यदि दोनों ठीक हैं तो आचार्यों को अपनी स्पष्ट सम्मति देना चाहिए और यदि आचार्य को ही आर्यिका दीक्षा देने का विधान है तो यह प्रयास होना चाहिए कि आर्यिका के द्वारा आर्यिका को दीक्षा देना राजमार्ग न बने। भले ही प्रथमानुयोग के साहित्य में अपवादवश ऐसे प्रसंग आये हों।

यहाँ यह कथ्य है कि आर्यिका प्रशान्तमति माताजी ने अनेक आर्यिकाओं को दीक्षा दी है, जबकि उनकी गुरुमां आर्यिका श्री विशुद्धमति माताजी ने उन्हें स्वयं दीक्षा न देकर आचार्य परमेष्ठी से ही दीक्षा दिलाई थी। आर्यिका विशुद्धमति माताजी का तो स्पष्ट मानना था कि आर्यिका

के द्वारा आर्यिका को दीक्षा देने की प्रथा आगम के अनुकूल नहीं है। मेरी विनम्र प्रार्थना है गणिनी/ आर्यिका माताओं से कि वे चरणानुयोग से पुष्ट करें कि आर्यिका के द्वारा आर्यिका को दीक्षा दिया जाना आगम के प्रतिकूल है या अनुकूल।

भट्टारक स्वरूप :

जैन धर्म के संरक्षण में तात्कालिक दृष्टि से भट्टारकों का महान् योगदान रहा है और आज भी उनके योगदान को नकारा नहीं जा सकता। आगम में तो क्षुल्लक/ ऐलक को भी मयूरपिच्छी रखने का उल्लेख नहीं मिलता है। अब भट्टारकों के पास भी मयूरपिच्छी है। इस पर समय-समय पर प्रश्न उठते रहे हैं। उनके पास क्षुल्लक की तरह अविहित मयूरपिच्छी है- यह अलग बात है, किन्तु कोई आचार्य/ उपाध्याय/ साधु परमेष्ठी उन्हें धारण करने के लिए पिच्छी भेजे या प्रदान करे- यह बात तो चिन्तनीय है ही। एकबार श्रवणबेलगोला के भट्टारक चारुकीर्ति जी स्वामी ने स्वयं कहा था कि एक आचार्य परमेष्ठी उन्हें स्वयं पिच्छी प्रदान करते हैं या स्वयं भेजते हैं। क्या यह आगमसम्मत माना जा सकता है? विद्वान् और सन्त इन महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार करें। भट्टारक पद न रहे- ऐसा मन्तव्य हमारा बिल्कुल भी नहीं है। उनके अच्छे कार्यों के प्रति हमारा सम्मान का भाव है, परन्तु उनके स्वरूप का निर्धारण तो होना ही चाहिए ताकि समाज का उनके प्रति सम्मान का भाव बना रहे। उनके पास क्या उपकरण रहे, उनकी वेशभूषा क्या हो- इसका निर्णय आगम के ज्ञाता भट्टारक स्वयं करें।

नैतिक शिक्षा :

देश के विभिन्न भागों में नैतिक शिक्षण शिविरों की ग्रीष्मावकाश में आयोजना हुई। नैतिक शिक्षा समिति दिल्ली एवं श्रुत संवर्द्धन संस्थान का इन शिविरों की आयोजना में महनीय अवदान रहा। साधु परमेष्ठियों ने भी अपने-अपने स्तर पर अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार बालक-बालिकाओं एवं श्रावक-श्राविकाओं को शिविरों के माध्यम से शिक्षित किया। वास्तव में इनकी आवश्यकता आज ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में है। आशा है आगामी समय में इनमें प्राकृत-संस्कृत के सामान्य

अध्ययन को भी सम्मिलित किया जा सकेगा, जिससे श्रावक श्रावकाचारों के अध्ययन से अपने श्रावक धर्म का तो सम्यक् निर्वाह कर ही सकेंगे। यदि पुण्योदयवश संसार से विरक्त होकर साधु बनें तो साधु बनने के पूर्व मूलाचार, भगवती आराधना, अनगार धर्मामृत आदि के अध्ययन से मुनि धर्म को भी यथार्थ रूप में समझ सकेंगे।

–डॉ. जयकुमार जैन

<u>'युगवीर' गुणाख्यान</u>

उपवास

उपवास एक प्रकार का तप और व्रत होने से धर्म का अंग है। विधिपूर्वक उपवास करने से पांचों इन्द्रियां और बन्दर के समान चंचल मन ये सब वश में हो जाते हैं, साथ ही पूर्व कर्मों की निर्जरा होती है। संसार में जो कुछ दु:ख और कष्ट उठाने पड़ते हैं, वे प्राय: इन्द्रियों की गुलामी और मन को वश में न करने के कारण से ही उठाने पड़ते हैं। जिस मनुष्य ने अपनी इन्द्रियों और मन को जीत लिया, उसने जगत् जीत लिया, वह धर्मात्मा है और सच्चा सुख उसी को मिलता है। इसलिए सुखार्थी मनुष्यों का उपवास करना प्रमुख कर्तव्य है। इतिहासों और पुराणों के देखने से मालूम होता है कि पूर्व काल में इस भारतभूमि पर उपवास का बड़ा प्रचार था। कितने ही मनुष्य कई-कई दिन का ही नहीं, कई-कई सप्ताह, पक्ष तथा मास तक का भी उपवास किया करते थे। वे इस बात को भली प्रकार समझे हुए थे और उन्हें यह दृढ विश्वास था कि-

कर्मेन्धनं यदज्ञानात् संचितं जन्म कानने।
उपवास-शिखी सर्वं तद्भस्मीकुरुते क्षणात्।।
उपवास फलेन भजन्ति नरा भुवनत्रय जात महाविभवान्।
खलु कर्ममल प्रलयादचिरादजराऽमर-केवल-सिद्ध-सुखम्।।

संसार रूपी वन में अज्ञानभाव से जो कुछ कर्मरूपी ईंधन संचित होता है उसको उपवासरूपी अग्नि क्षणमात्र में भस्म कर देती है।

उपवास के फल से मनुष्य तीन लोक की महा विभव को प्राप्त होते हैं और कर्ममल का नाश हो जाने से शीघ्र ही अजर, अमर केवल सिद्ध सुख का अनुभव करते हैं।

इसी से वे (पूर्वकालीन मनुष्य) प्राय: धीरवीर, सहनशील, मनस्वी, तेजस्वी, उद्योगी, साहसी, नीरोगी, दृढसंकल्पी, बलवान्, विद्यावान् और सुखी होते थे, जिस कार्य को करना विचारते थे, उसको करके छोड़ते थे, परन्तु आज वह स्थिति नहीं है। आजकल उपवास की बिल्कुल मिट्टी पलीद है- प्रथम तो उपवास करते ही बहुत कम लोग हैं और जो करते

हैं, उन्होंने प्राय: भूखे मरने का नाम उपवास समझ रखा है। इसीसे वे कुछ भी धर्म-कर्म न कर उपवास का दिन योंही आकुलता और कष्ट से व्यतीत करते हैं- गर्मी के मारे कई-कई बार नहाते हैं, मुख धोते हैं, मुख पर पानी के छींटे देते हैं, ठण्डे पानी में कपड़ा भिगोकर छाती आदि पर रखते हैं; कोई-कोई प्यास कम करने के लिए कुल्ला तक भी कर लेते हैं और किसी प्रकार से यह दिन पूरा हो जावे तथा विशेष भूख-प्यास की बाधा मालूम न होवे इस अभिप्राय से खूब सोते हैं, चौंसर-गंजिफा आदि खेल खेलते हैं अथवा कभी-कभी का पड़ा-गिरा कोई ऐसा गृहस्थी का धंधा या आरम्भ का काम ले बैठते हैं, जिसमें लगकर दिन जाता हुआ मालूम न पड़े। गरज ज्यों-त्यों करके अनादर के साथ उपवास के दिन को पूरा कर देते हैं, न विषय-कषाय छोड़ते हैं और न कोई खास धर्माचरण ही करते हैं। पर इतना जरूर है कि भोजन बिल्कुल नहीं करते, भोजन न करने को ही उपवास या व्रत समझते हैं और इसी से धर्मलाभ होना मानते हैं! सोचने की बात है कि यदि भूखे मरने का नाम ही उपवास या व्रत हो तो भारतवर्ष में हजारों मनुष्य ऐसे हैं, जिनको कई-कई दिन तक भोजन नहीं मिलता है, वे सब ही व्रती और धर्मात्मा ठहरें; परन्तु ऐसा नहीं है। हमारे आचार्यों ने उपवास का लक्षण इस प्रकार वर्णन किया है-

कषाय-विषयाहार-त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

अर्थात् जिसमें कषाय, विषय और आहार इन तीनों का त्याग किया जाता है, उसको उपवास समझना चाहिए। शेष जिसमें कषाय और विषय का त्याग न होकर केवल आहार का ही त्याग किया जावे, उसको लंघन (भूखा मरना) कहते हैं।

श्री अमितगति आचार्य इस विषय में ऐसा लिखते हैं-

त्यक्त-भोगोपभोगस्य, सर्वारम्भ-विमोचिनः।
चतुर्विधाशनत्याग उपवासो मतो जिनैः॥

अर्थात् जिसने इन्द्रियों के विषयभोग और उपभोग को त्याग दिया है और जो समस्त प्रकार के आरम्भ से रहित है, उसी के जिनेन्द्रदेव ने चार प्रकार के आहार-त्याग को उपवास कहा है। अत: इन्द्रियों के विषयभोग

और आरम्भ के त्याग किए बिना चार प्रकार के आहार का त्यागना उपवास नहीं कहलाता।

स्वामी समन्तभद्राचार्य की उपवास के विषय में ऐसी आज्ञा है-

पंचानां पापानामलंक्रियाऽऽरम्भ-गंध-पुष्पाणाम्।
स्नानाऽञ्जन-नस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात्॥1॥
धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वान्यान्।
ज्ञान-ध्यान-परो वा भवतूपवसन्न तन्द्रालुः॥2॥

उपवास के दिन पांचों पापों- हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह का श्रृंगारादिक रूप में शरीर की सजावट का, आरम्भों का, चन्दन इत्र-फुलेल आदि गंध द्रव्यों के लेपन का, पुष्पों के सूंघने तथा माला आदि धारण करने का, स्नान का, आंखों में अंजन (सुरमा) लगाने का और नाक में दवाई डालकर नस्य लेने तथा तमाखू आदि सूँघने का त्याग करना चाहिये।

उपवास करने वाले को दिन निद्रा तथा आलस्य को छोड़कर अति अनुराग के साथ कानों द्वारा धर्मामृत को स्वयं पीना तथा दूसरों को पिलाना चाहिये और साथ ही ज्ञान तथा ध्यान के आराधन में तत्पर रहना चाहिए।

इस प्रकार उपवास के लक्षण और स्वरूप-कथन से यह साफतौर पर प्रकट है कि केवल भूखे मरने का नाम उपवास नहीं है; किन्तु विषय-कषाय का त्याग करके इन्द्रियों को वश में करने, पंच पापों तथा आरम्भ को छोड़ने और शरीरादि से ममत्व परिणाम को हटाकर प्रायः एकान्त स्थान में धर्मध्यान के साथ काल को व्यतीत करने का नाम उपवास है और इसी से उपवास धर्म का एक अंग तथा सुख का प्रधान कारण है।

जो लोग (पुरुष हो या स्त्री) उपवास के दिन झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, मैथुन सेवन करते हैं या अपने घर-गृहस्थी के धंधों में लगे रहकर अनेक प्रकार के सावद्यकर्म (हिंसा के काम) एवं छल-कपट करते हैं, मुकदमे लड़ाते और परस्पर लड़कर खून बहाते हैं तथा अनेक प्रकर के उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनकर शरीर का श्रृंगार करते हैं, सोते हैं, ताश, चौपड़ तथा गंजिफा आदि खेल खेलते हैं, हुक्का पीते या तमाखू आदि

सूंघते हैं और स्वाध्याय, सामायिक, पूजन, भजन आदि कुछ भी धर्म-कर्म न करके अनादर तथा आकुलता के साथ उस दिन को पूरा करते हैं। वे कैसे उपवास के धारक कहे जा सकते हैं और उनको कैसे उपासक का फल प्राप्त हो सकता है? सच पूछिये तो ऐसे मनुष्यों का उपवास, उपवास नहीं है; किन्तु उपहास है। ऐसे मनुष्य अपनी तथा धर्म दोनों की हंसी और निन्दा कराते हैं, उन्हें उपवास से प्राय: कुछ भी धर्म-लाभ नहीं होता। उपवास के दिन पापाचरण करने तथा संक्लेशरूप परिणाम रखने से तीव्र पाप बंध की संभावना अवश्य है। हमारे लिये यह कितनी लज्जा और शरम की बात है कि ऊँचे पद को धारण करके नीची क्रिया करें अथवा उपवास का कुछ भी कार्य न करके अपने आपको उपवासी और व्रती मान बैठें!

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि विधिपूर्वक उपवास करने से पांचों इन्द्रियाँ और मन शीघ्र ही वश में हो जाते हैं और इनके वश में होते ही उन्मार्ग-गमन रुककर धर्म-साधन का अवसर मिलता है। साथ ही उद्यम, साहस, पौरुष, धैर्य आदि सद्गुण इस मनुष्य में जागृत हो उठते हैं और यह मनुष्य पापों से बचकर सुख के मार्ग में लग जाता है; परन्तु जो लोग विधिपूर्वक उपवास नहीं करते, उनको कदापि उपवास के फल की यथेष्ट प्राप्ति नहीं हो सकती। उनका उपवास केवल एक प्रकार का कायक्लेश है, जो भावशून्य होने से कुछ फलदायक नहीं, क्योंकि कोई भी क्रिया बिना भावों के फलदायक नहीं होती **(यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव शून्याः)**। अतएव उपवास के इच्छुकों को चाहिये कि वे उपवास के आशय और महत्त्व को अच्छी तरह से समझ लें, वर्तमान विरुद्धाचरणों को त्याग करके श्रीआचार्यों की आज्ञानुकूल प्रवर्तें और कम से कम प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी को (जो पर्व के दिन हैं) अवश्य ही विधिपूर्वक तथा भावसहित उपवास किया करें। साथ ही इस बात को अपने हृदय में जमा लेवें कि उपवास के दिन अथवा उपवास की अवधि तक व्रती को कोई भी गृहस्थी का धंधा व शरीर का श्रृंगारादि नहीं करना चाहिए। उस दिन समस्त गृहस्थारंभ को त्याग करके पंच पापों से विरक्त होकर अपने शरीरादि से ममत्व-परिणाम तथा रागभाव को घटाकर और

अपने पांचों इन्द्रियों के विषयों तथा क्रोध, मान, मायादि कषायों को वश में करके एकान्त स्थान अथवा श्री जिनमंदिर आदि में बैठकर शास्त्र स्वाध्याय, शास्त्रश्रवण, सामायिक, पूजन-भजन आदि धर्मकार्यों में काल को व्यतीत करना चाहिए। निद्रा कम लेनी चाहिये, आर्त-रौद्र परिणामों को अपने पास नहीं आने देना चाहिये। हर समय प्रसन्न-वदन रहना चाहिये और इस बात को याद रखना चाहिये कि शास्त्र-स्वाध्यायादि जो कुछ भी धर्म के कार्य किये जावें वे सब रुचिपूर्वक और भावसहित होने चाहिये। कोई भी धर्मकार्य बेदिली, जाब्तापूरी या अनादर के साथ नहीं करना चाहिये और न इस बात का ख्याल तक ही आना चाहिए कि किसी प्रकार से यह दिन शीघ्र ही पूरा हो जावे; क्योंकि बिना भावों के सर्व धर्म-कार्य निरर्थक हैं। जैसा कि आचार्यों ने कहा है-

भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकंठे स्तनाविव।।

जो मनुष्य बिना भाव के पूजादिक, तप, दान और जपादिक करता है अथवा दीक्षादि ग्रहण करता है, उसके वे सब कार्य बकरी के गले में लटकते हुये स्तनों के समान निरर्थक हैं।

अर्थात् जिस प्रकार बकरी के गले में स्तन निरर्थक हैं, उनसे दूध नहीं निकलता, वे केवल देखने मात्र के स्तन हैं, उस ही प्रकार बिना तदनुकूल भाव और परिणाम के पूजन, तप, दान, उपवासादि समस्त धार्मिक कार्य केवल दिखावामात्र हैं- उनसे कुछ भी धर्म-फल की सिद्धि अथवा प्राप्ति नहीं होती।

******

आधुनिक जीवन में कर्म-सिद्धान्त की प्रासंगिकता

-डॉ. कमलेश कुमार जैन

प्रत्येक धर्म-दर्शन में कर्मसिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। यह कर्म शारीरिक भी होता है, वाचनिक भी होता है और मानसिक भी। जब कोई कर्म किया जाता है तो उसमें सर्वाधिक भूमिका मन की होती है। इसीलिये नीतिकारों ने कहा है कि- **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः।** अर्थात् मन ही मनुष्यों के कर्मबन्ध अथवा मोक्ष का कारण है।

सामान्य रूप से यह जनश्रुति प्रचलित है कि जो जैसा करता है उसका उसे वैसा ही फल मिलता है और यह जनश्रुति गलत नहीं है, अपितु यथार्थ है। प्रथमानुयोग साहित्य में इसके हजारों उदाहरण हमें मिल जायेंगे, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म करने में व्यक्ति स्वतंत्र है, किन्तु कर्मफल की प्राप्ति में वह परतंत्र है। किये गये कर्म का फल जीवमात्र को भोगना ही पड़ता है, यह एक स्वाभाविक व्यवस्था है। जो लोग ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार करते हैं वे भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि कर्म का फल अवश्य मिलता है। यह बात अलग है कि कर्मफल को वे ईश्वर प्रदत्त मानते हैं।

आज वर्तमान में अनेक युवा आधुनिकता की होड़ में कर्म-सिद्धान्त स्वीकार नहीं करते हैं और मनमाने ढंग से अनेक व्यसनों में लिप्त हैं, किन्तु जैसे ही वे किसी मुसीबत में फँसते हैं अथवा उन्हें कोई रोग घेर लेता है तो वे कर्मफल में विश्वास करने लगते हैं। व्यक्ति कानून को धोखा देकर बच सकता है, किन्तु प्रकृति प्रदत्त कर्म को न तो वह धोखा दे सकता है और न कर्मफल से बच सकता है। अतः इस सच्चाई को जानकर बाल, युवा अथवा वृद्धों को खोटे कार्यों से बचकर अच्छे कार्यों में प्रवृत्त होना चाहिए।

जीव मात्र की विभिन्न पर्यायों एवं उनके आकार-प्रकार इस बात

के साक्षी हैं कि उनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं और उनका फल भी भिन्न-भिन्न है। यदि ऐसा नहीं होता तो सभी की आकृति और सभी की प्रकृति एक जैसी होनी चाहिए, किन्तु यथार्थ में ऐसा नहीं है। अतः हमें वास्तविकता से परिचित होना चाहिये। वास्तविकता से कभी मुँह नहीं मोड़ना चाहिये।

शास्त्रों में तीन कालों की चर्चा है- अतीत, वर्तमान और भविष्य। ये तीनों काल एक-दूसरे से परस्पर जुड़े हुये हैं। वर्तमान काल मध्य दीपक का कार्य करता है। यह अतीत से जुड़ा है और भविष्य से भी। जैनदर्शन पुनर्जन्म को स्वीकार करता है। यह पुनर्जन्म की मान्यता जीव को तीनों कालों से जोड़ती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने पञ्चास्तिकाय नामक ग्रन्थ में लिखा है-

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण बलमिंदियमाउ उस्सासा।।[1]

अर्थात् जो वर्तमान काल में चार प्राणों से जीता है, भविष्यत्काल में जियेगा और इससे पूर्व जीता था वह निश्चय से जीव है। उसके बल, इन्द्रिय, आयु और श्वासोच्छ्वास- ये कम से कम चार प्राण अवश्य होते हैं। इसी प्रकार सिद्धान्तिदेव मुनि नेमिचन्द्र ने भी अपने द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ में लिखा है कि-

तिक्काले चदुपाणा इंदियबलमाउ आणपाणो य।
ववहारा सो जीवो णिच्छयणयदो दु चेदणा जस्स।।[2]

इस प्रकार जीव मात्र का तीनों कालों से सम्बन्ध है। गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में जीव के दश प्राणों का उल्लेख किया गया है- स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र- ये पांच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल और कायबल- ये तीन बल और आयु एवं श्वासोच्छ्वास- ये दश प्राण हैं।[3] एकेन्द्रिय जीव में चार प्राण पाये जाते हैं- स्पर्शन इन्द्रिय, काय बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। द्वीन्द्रिय जीव में उपर्युक्त के अतिरिक्त रसना इन्द्रिय और वचन बल- ये दो प्राण और होते हैं। त्रीन्द्रिय जीव में उपर्युक्त के अतिरिक्त घ्राण इन्द्रिय होती है, जिससे त्रीन्द्रिय जीव में सात प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रिय जीव में चक्षु इन्द्रिय भी होती है। अतः चतुरिन्द्रिय जीव के

कुल आठ प्राण होते हैं। पञ्चेन्द्रिय जीव के दो भेद हैं- मन रहित और मन सहित। मन रहित पञ्चेन्द्रिय जीव असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहलाते हैं, इनके श्रोत्रेन्द्रिय भी होती है, किन्तु मन नहीं। अतः असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव में नौ प्राण पाये जाते हैं। संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव के मन भी होता है। अतः संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव के दश प्राण पाये जाते हैं। इस प्रकार कम से कम चार प्राण और अधिक से अधिक दश प्राण जीव में पाये जाते हैं।

जीवों में प्राणों की हीनाधिकता उनके स्वोपार्जित कर्मों के कारण होती है, ऐसा जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त है। यह कर्म-सिद्धान्त तीनों कालों में समान रूप से कार्य करता है। आधुनिक जीवन में यह कर्म-सिद्धान्त वैसे ही कार्य करता है, जैसे वह अतीत काल में अपना प्रभाव दिखा चुका है और भविष्यत्काल में दिखलायेगा।

आज के युवा प्रायः उन शक्तियों में विश्वास नहीं करते हैं, जो अतीत के अन्धकार में विलीन हो चुकी हैं अथवा भविष्य के गर्भ में समाहित हैं। युवा केवल वर्तमान को ही स्वीकार करता है, जिससे वह प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करते हैं। अतः उनका सिद्धान्त है कि खाओ, पियो और मौज करो।[4] चार्वाक का यह सिद्धान्त युवाओं के दिल-ओ-दिमाग पर हाबी है, जो युवावर्ग के लिये खतरनाक सन्देश है।

शास्त्रों में योग की चर्चा की गई है। आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में योग की परिभाषा करते हुये लिखा है कि- कायवाङ्मनः कर्म योगः।[5] अर्थात् शारीरिक क्रिया, वाचिक क्रिया और मानसिक क्रिया का नाम योग है। वस्तुतः जीवकृत ये तीनों क्रियायें ही कर्म हैं। सामान्यतः मन, वचन और काय की क्रिया को क्रमशः रखा जाता है, क्योंकि किसी भी कर्म को करने की बात सर्वप्रथम मन में आती है, तदनन्तर वही बात वचन से निकलती है और अन्त में तदनुसार वही क्रिया शरीर के माध्यम से की जाती है। यह सूक्ष्म की ओर से स्थूल की ओर प्रस्थान है, किन्तु आचार्य उमास्वामी जन सामान्य को ध्यान में रखते हुए स्थूल से सूक्ष्म की ओर आते हैं और उन्होंने क्रम में पहले काय को रखा, तदनन्तर वचन को और सबसे अन्त में मन को रखा है। शारीरिक क्रिया स्थूल क्रिया है, जो सभी के द्वारा देखी जा सकती है। वाचनिक क्रिया उससे सूक्ष्म है और

मानसिक क्रिया तो अत्यन्त सूक्ष्म है।

कान चाहे सीधे पकड़ो अथवा हाथ घुमाकर पकड़ो। पकड़ना कान ही है, वैसे ही स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाओ अथवा सूक्ष्म से स्थूल की ओर। कुल मिलाकर हमें कर्म के प्रति सावधान रहना है।

आज उपदेशकों की कमी नहीं है, कमी है तो केवल उन उपदेशों को जीवन में उतारने वालों की। जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप जिन तीन रत्नों की चर्चा की गई है, उनमें सम्यग्दर्शन को स्वीकार करना अर्थात् सप्त तत्त्वों के स्वरूप के प्रति सच्ची श्रद्धा करना प्राथमिक योग्यता है। यदि तत्त्व स्वरूप के प्रति हमारी श्रद्धा दृढ़ हो जाये तो हमारा मानसिक तनाव कम हो जायेगा और हाई ब्लडप्रेशर एवं सुगर जैसी बीमारियाँ हमारे जीवन में आयेंगी ही नहीं। अत: यदि हमें स्वस्थ रहना है तो हमें मानसिक दुश्चिन्ताओं से अपने को मुक्त रखना होगा, अन्यथा हमें बीमारियों से घिरने में थोड़ी भी देर नहीं लगेगी।

धर्म और कर्म का परस्पर में सम्बन्ध है। सत्कर्म के माध्यम से हम धर्म की ओर प्रस्थान करते हैं और अन्त में समता की, समत्वभाव की प्राप्ति हो जाना धर्म है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं कि-

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हि समो।।[6]

अर्थात् चारित्र ही वास्तव में धर्म है और जो धर्म है वह समता है, साम्यभाव है। अब साम्यभाव क्या है? इसे ही स्पष्ट करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द आगे लिखते हैं कि- मोह और क्षोभ से रहित आत्मा का जो परिणाम है वही साम्य है। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह और क्षोभ- इन दो शब्दों का प्रयोग किया है। इन दोनों शब्दों का सरलीकृत संस्करण है राग और द्वेष। यहाँ मोह राग का वाचक है और क्षोभ द्वेष का वाचक है। इन राग और द्वेष रूप परिणामों से रहित होना ही वास्तविक चारित्र है। आज हम राग और द्वेष रूप परिणामों के कारण बेचैन हैं। इन्हीं के कारण हम दु:खी हैं। इन्हीं के कारण हम मानसिक रूप से रुग्ण हैं और हमें इनसे बचना है अर्थात् स्वस्थ होना है, तो राग-द्वेष रूप मानसिक विचारों से हमें अपने को दूर रखना होगा।

अबोध बालिकाओं के साथ बलात्कार करना और फिर जेल जाना जैसे कार्य हमारी मानसिक दुर्बलता के प्रतीक हैं। आत्म-हत्या जैसे विचारों को प्रोत्साहन देना और तदनुरूप आचरण करना, जैनदर्शन के कर्म सिद्धान्त को गहराई से न समझने के कारण हैं।

सम्पूर्ण विश्व में आतंकवाद का बोलबाला कर्म सिद्धान्त को न समझने के कारण है। पृथिवी को प्रभूत मात्रा में खोदना, वृक्षों की अन्धाधुन्ध कटाई करना, जल का आवश्यकता से अधिक मात्रा में दोहन करना, विभिन्न जहरीली गैसों के माध्यम से वायु को प्रदूषित करना और आकाश का युद्धों के लिये उपयोग करना- ये सभी अनैतिक कार्य हैं, नीति विरुद्ध कार्य हैं। इनके माध्यम से व्यक्ति अपने पाँव पर कुल्हाड़ी मारने जैसी आत्मघाती क्रियाओं में संलग्न है।

ये सभी अनैतिक कार्य हमारी मूलभूत प्राकृतिक सम्पदा को नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं। **'जल नहीं तो कल नहीं'** जैसे मुहावरे भी हमें कुम्भकर्णी निद्रा से जगा नहीं पा रहे हैं। हम कहाँ जा रहे हैं? किस दिशा में प्रस्थान कर रहे हैं? इसका हमें स्वयं बोध नहीं है। यदि हमें अपनी भावी पीढ़ी को बचाना है तो हमें कर्म-सिद्धान्त की प्रासंगिकता को समझना होगा।

फास्ट फूड के सेवन ने हमारी शारीरिक संरचना पर डाका डाल दिया है। समचतुरस्र संस्थान जैसे शब्द अब शब्दकोशों की शोभा बढ़ा रहे हैं। रात्रि भोजन हमारी दिनचर्या को बिगाड़ रहा है। **'वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्'** जैसे आर्षवाक्यों को हमने कभी जीवन में नहीं उतारा है और अब बिसलरी की बाटलें हमारे जीवन का अंग बनती जा रही हैं।

हमें कर्म शब्द की मीमांसा करनी होगी। कर्म का अर्थ है- कार्य करना। इन्हें हम सत्संस्कार से भी सम्बोधित कर सकते हैं। यदि हमारे जीवन में अच्छे संस्कार आ गये तो आधुनिक जीवन में कर्म सिद्धान्त की प्रासंगिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है और यदि जीवन में अच्छे संस्कारों का अभाव है तो मद्यपान कर नालियों की शोभा बढ़ाना निश्चित है।

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा कर्म पुद्गलों का संचय राग-द्वेष रूप परिणामों के अनुसार करता है। समय आने पर, कर्मों के पक जाने पर

अथवा स्थितिबन्ध समाप्त हो जाने पर कर्म उदय में आते हैं और सुख-दु:ख रूप फल देते हैं। इसलिये आज भी कर्मव्यवस्था प्रासंगिक है।

छहढाला में पण्डित दौलतराम जी ने लिखा है कि- **'जल पय ज्यों जिय तन मेला, पै भिन्न भिन्न नहीं भेला'**[7] अर्थात् आत्मा और शरीर वैसे ही हैं जैसे दूध और जल। जैसे दूध, दूध है और जल, जल है। दूध जल नहीं है और जल दूध नहीं है, वैसे ही आत्मा, आत्मा है और शरीर, शरीर है। आत्मा शरीर नहीं है और शरीर आत्मा नहीं है। दोनों एकाकार दिखलाई होते हुये भी पृथक्-पृथक् हैं। आत्मा प्रतिपल ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से घिरा हुआ है। बस, उसे राग-द्वेष रूप चिकनाई की आवश्यकता है और जैसे ही उसकी यह आवश्यकता पूर्ण होती है, आत्मा से कर्म चिपट जाते हैं और आत्मा पराधीन हो जाती है, उसका फलस्वरूप समाप्त हो जाता है।

हमारे स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने से कर्मव्यवस्था रुकती नहीं है। इसी प्रकार न अतीतकाल में रुकी है और न भविष्यत्काल में रुकेगी। कर्म व्यवस्था तो अनादिकाल से इसी प्रकार चली आ रही है और अनन्त काल तक इसी प्रकार चलती रहेगी। हम उसके द्रष्टा एवं भोक्ता मात्र हैं। हाँ, हम अपने पुरुषार्थ से कर्मबन्धन काट सकते हैं, आत्मा और कर्मों को पृथक् पृथक् कर सकते हैं। यही हमारा पौरुष है और यही हमारा पुरुषार्थ है।

यदि हमने जैनदर्शन के कारण-कार्य रूप कर्मसिद्धान्त को सम्यक्रूपेण समझ लिया और उसको अपने जीवन में उतार लिया तो हम अनेक विपत्तियों से स्वत: बच जायेंगे। इसीलिये जैसे पूर्वकाल में कर्मसिद्धान्त की प्रासंगिकता थी, इसी प्रकार भविष्यत्काल में भी बनी रहेगी और आधुनिक जीवन में भी कर्म-सिद्धान्त की प्रासंगिकता है, इसमें कहीं कोई सन्देह नहीं है।

संदर्भ :

1. पञ्चास्तिकाय, गाथा 30
2. गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा 130
3. द्रव्यसंग्रह, गाथा 3

4. यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
   भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः।।
5. तत्त्वार्थसूत्र 6/1
6. प्रवचनसार, गाथा 7
7. छहढाला 5/7

-पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,
जैन-बौद्धदर्शन विभाग,
N-13/23, E-13A सराय सुरजन,
उमानाथ अखाड़ा, पोस्ट- बजरडीहा,
वाराणसी (उ.प्र.) 221106

*****

संवर और निर्जरा अनुप्रेक्षाओं का शास्त्रीय चिन्तन

-डॉ. श्रेयांस कुमार जैन

अध्यात्म प्रधान जैनधर्म में भावविशुद्धि का सातिशय माहात्म्य है और द्रव्य शुद्धि का भी महत्त्व कम नहीं है। भावशुद्धि के लिए निमित्त संवरतत्त्व को अपनाता है, उसी के अन्तर्गत द्वादशानुप्रेक्षा को संवर के कारणों में गिना गया है। इनके चिन्तन से साधक की मनःशुद्धि होती है। साम्यभाव की वृद्धि होती है। बार-बार के चिन्तन से त्याग की भावना बलवती होती है। **पुनः पुनः प्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणमित्यनुप्रेक्षा**, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका में कहा भी गया है कि पुनः पुनः चिन्तन ही अनुप्रेक्षा है।[1] अनुप्रेक्षा में मानव जीव और जगत् के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन मनन करता है। अनुप्रेक्षाएँ द्वादश हैं, उनमें संवर, निर्जरा अनुप्रेक्षाओं का विशेष स्थान है, उन्हीं का चिन्तन प्रस्तुत है। आचार्य कार्तिकेय संवर के कारणों पर विचार करते हुए लिखते हैं-

गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा तह य परिसह जओवि।
उक्किट्ठं चारित्तं संवर हेदू विसेसेण॥

कार्तिकेयानुप्रेक्षा 96

गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और उत्कृष्ट चारित्र ये विशेष रूप से संवर के कारण हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने भी संवर के ये ही कारण कहे हैं।[2] अनुप्रेक्षा के द्वारा संवर के कारणों पर साधक को विचार करना चाहिए और आचरण करना चाहिए, क्योंकि जो पुरुष इन संवर के कारणों का विचार करता हुआ भी उनका आचरण नहीं करता है, वह दुःखों से संतप्त होकर चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता है।[3] संवर के कारणों के चिन्तन से कषाय और प्रमादों को छोड़ने की प्रवृत्ति होती है, साथ में रागादि दोषों को छोड़कर धर्म्य और शुक्ल ध्यान में लीन होता है और संवर के गुणों का अनुचिन्तन करने वाले मनुष्य के नित्य संवर के प्रति तत्परता रहती है, वह संवर के लिए प्रयत्नशील भी रहता है। वही

पूर्ण संवर का अधिकारी है। जैसाकि आचार्य कार्तिकेय भी कहते हैं-

जो पुण विसय-विरत्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरइ।
मणहर-विसएहिंतो तस्स फुडं संवरो होदि॥

-कार्तिकेयानुप्रेक्षा 101

अर्थात् जो मुनि विषयों से विरक्त होकर मन को हरने वाले पांचों इन्द्रियों के विषयों से अपने को सदा दूर रखता है, उनमें प्रवृत्ति नहीं करता है, उसी मुनि के निश्चय से संवर होता है।

संवर अनुप्रेक्षा का व्याख्यान करते हुए भट्टाकलंकदेव कहते हैं कि 'कछुवे के समान संकुचित अंग वाले संवरयुक्त आत्मा के सर्व आस्रव के दोष नहीं होते हैं। जैसे महासमुद्र में पड़ी हुई नौका में छिद्र को नहीं रोकने पर जलागम से संचित हुए जल का विप्लव होने पर नौका में बैठे हुए इष्ट स्थान पर पहुँच जाती है, उसमें बैठे हुए मानव सुरक्षित रहते हैं, उसी प्रकार कर्मागम द्वार के बन्द हो जाने पर (अर्थात् संवर हो जाने पर) श्रेय (आत्मकल्याण) का कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता है। संवर युक्त प्राणी का कल्याण अवश्य होता है। इस प्रकार संवर के गुणों का चिन्तन करना संवर अनुप्रेक्षा है।[4]

गुप्ति, समिति धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र ये संवर के साधारण कारण माने गये हैं, क्योंकि इनमें प्रवृत्ति को रोकने की मुख्यता नहीं है और जब तक मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोका नहीं जाता तब तक संवर की पूर्णता नहीं हो सकती है। निवृत्ति की मुख्यता से संवर कारणों में आचार्य कार्तिकेय ने स्पष्ट किया है- गुप्ति मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के रोकने का नाम है। इसके मनोगुप्ति-वचन गुप्ति-कायगुप्ति के भेद से तीन प्रकार वर्णित हैं। विकथा, कषाय वगैरह प्रमादों के छोड़ने को समिति कहते हैं। जिसमें दया ही प्रधान है, वह धर्म है। जीव-अजीव आदि तत्त्वों के चिन्तन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं।[5] क्षुधा आदि की वेदना को समतापूर्वक सहन करना परीषहजय है।[6] रागादि दोषों से रहित शुभध्यान में लीन आत्मस्वरूप को उत्कृष्ट चारित्र कहते हैं।[7] ये सभी संवर के कारण हैं।

'आस्रवनिरोधः संवरः' आस्रव का निरोध करना संवर है। जिस प्रकार नाव में छिद्र होने से उसमें पानी भरने लगता है और नाव के डूबने की संभावना रहती है। अतः नाविक सर्वप्रथम छेदों को बन्द करता है फिर नौका को चलाता है। इसी प्रकार साधक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग का उपशम या क्षय करने का प्रयत्न करता है। इनके उपशम, क्षय-क्षयोपशम के होने पर ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है और विशुद्धि बढ़ती है।

संवर अनुप्रेक्षा के माध्यम से साधक आत्म विशुद्धि बढ़ाता है, वह विचार करता है। द्रव्यसंवर और भावसंवर के भेद से संवर के दो प्रकार हैं। संवर की कारणभूत क्रिया की निवृत्ति होना भावसंवर है। संसार की निमित्तभूत क्रिया का निरोध होने पर तत्पूर्वक होने वाले कर्मपुद्‌गलों के ग्रहण का विच्छेद होना द्रव्यसंवर है। चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्त्व होने पर मिथ्यात्व का अभाव होता है। बारह व्रतों रूप एकदेश संयम के होने पर अविरति का एकदेश रूप अभाव तथा सप्तम एवं षष्ठ गुणस्थान में अहिंसादि पांच महाव्रतों के पूर्ण होने पर असंयम-अविरति का अभाव हो जाता है। अप्रमत्त गुणस्थान की प्राप्ति प्रमाद का अभाव होने पर होती है। कषायों का पूर्ण उपशम ग्यारहवें गुणस्थान में होता है और क्षय दशम गुणस्थान में होता है। बारहवां गुणस्थान क्षीणमोह की प्राप्ति कषाय और मोह के क्षय होने पर ही होती है। चौदहवें गुणस्थान में योग का भी अभाव हो जाता है।[8] गुप्ति, समिति, धर्म आदि ही संवर के प्रमुख हेतु हैं।[9] तप भी संवर का कारण है। संवर से ही सत्तावन प्रकार के आस्रव का निरोध होता है। इस भावना के चिन्तन में साधक यह भी विचार करता है कि आत्मा स्वयं सुखरूप है, किन्तु मन-वचन-कायरूप कर्मागम द्वारों को निष्क्रिय बनाकर जब हम आत्मा में लीन होते हैं तभी पूर्णसंवर हो सकता है। संवर केवल चर्चा का विषय नहीं है, वह तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर धारण किए गये व्रतादि, गुप्ति, समिति की समीचीन परिपालना से ही सम्भव है।

कर्मरूपी रोग को नष्ट करने के लिए संवर आवश्यक है। संवर से अशुभ प्रवृत्तियों की निवृत्ति होती है और शुभ प्रवृत्तियों में वृद्धि होती है।

कर्मबन्ध के मूलकारणों का संवर द्वारा ही परिहार होता है। कर्मबन्ध के कारणों का परिहार होने से आत्मा में विशुद्धता बढ़ती है। संवर के होने से नवीन-नवीन कर्मों का प्रवाह बिल्कुल ही रुक जाता है। अर्थात् मन-वचन-काय की शुभ प्रवृत्ति में लगने के कारण अशुभोपयोग का संवर हो जाता है। आत्मध्यान में लीन होने पर या शुद्धोपयोग में पहुंचने पर शुभोपयोग का संवर हो जाता है। शुद्धोपयोग शुक्लध्यान में निमित्त है। ध्यान संवर के लिए अत्यावश्यक है। अतः साधक को निरन्तर ध्यान का अभ्यास करना चाहिए, जिनसे संवर हो सके। अशुभ और शुभकर्मों के संवरपूर्वक ही निर्जरा सम्भव है।

निर्जरा अनुप्रेक्षा :

आत्मा में आस्रव-बन्ध के माध्यम से एकत्रित कर्म और संवर के द्वारा नवीन कर्मों का निरोध होने के बाद पूर्व संचित कर्मों का आत्मा से एकदेश झड़ना या पृथक् होना निर्जरा है। निर्जरा तप के द्वारा ही होती है; किन्तु सामान्य निर्जरा तो प्रत्येक जीव के प्रतिसमय होती ही रहती है, क्योंकि जो कर्म उदय में आकर फल दे चुके हैं, वे आत्मा से पृथक् हो जाते हैं। पृथक् होने वाले इन कर्मों को सविपाक निर्जरा कहा जाता है और तप के द्वारा होने वाली अविपाक निर्जरा कहलाती है। यह बारह प्रकार के तप के माध्यम से होती है और यही निर्जरा मोक्ष का साक्षात् कारण है। मोक्ष की कारणभूत निर्जरा का विशेष चिन्तन ही निर्जरा अनुप्रेक्षा है। जैसा कि कार्तिकेय स्वामी प्रतिपादित करते हैं-

वारसविहेण तवसा णियाण-रहियस्स णिज्जरा होदि।
वेरग्ग-भावणादो णिरहंकारस्स णाणिस्स।।

-कार्तिकेयानुप्रेक्षा 102

अर्थात् निदान रहित, निरभिमानी, ज्ञानी पुरुष के वैराग्य की भावना से अथवा वैराग्य और भावना से बारह प्रकार के तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है।

यह वास्तविकता है कि निदान रहित निरभिमानी ज्ञानी पुरुष के वैराग्य की भावना का जो चिन्तन किया जाता है, वही कार्यकारी है। अज्ञानी का तप और भावना (चिन्तन) कर्मबन्ध का ही कारण होता है।

ज्ञानी के द्वारा निर्जरा के स्वरूप गुण-दोष भेद आदि का चिंतन किया जाता है। आचार्य अकलंकदेव का कहना है कि 'वेदना के विपाक (फल देकर कर्मों के झड़ जाने को) निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा दो प्रकार की है- अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल विपाक से होने वाली अबुद्धिपूर्वा निर्जरा है, वह अकुशलानुबन्ध है, क्योंकि वह पाप बन्ध का कारण है। परीषहजय और तप आदि से होने वाली निर्जरा कुशलमूला है अर्थात् परीषह सहन करने पर कुशलमूला निर्जरा होती है, वह शुभकर्म बन्ध वाली होती है और बन्ध रहित भी होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुण-दोषों का चिन्तन करना निर्जरा भावना है।

निर्जरा अनुप्रेक्षा का चिन्तन करने वाले प्राणी की कर्म निर्जरा के लिए ही प्रवृत्ति होती है।[10] उसका चिंतन चलता है कि आबाधाकाल पूर्ण होने पर बद्धकर्म उदयावली में आकर निषेक रचना के अनुसार खिरने लगते हैं, उनका यह खिरना सविपाक निर्जरा कहलाती है। सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्य राशि के अनन्त गुणित कर्म परमाणु प्रत्येक समय बन्ध को प्राप्त होते हैं और उतने ही कर्म परमाणु निर्जीर्ण हो जाते हैं। यह क्रम अनादिकाल से चला आ रहा है। सम्यग्दर्शन तथा तपश्चरण आदि का निमित्त मिलने पर उन कर्म परमाणुओं को जोकि अभी उदयावली में नहीं आये थे, उन्हें उदयावली में लाकर खिरा देना अविपाक निर्जरा है। सकाम और अकाम इन दो नामों से भी निर्जरा का वर्णन है। स्वत: ही विपाक होने पर कर्मस्थिति समाप्त होने पर कर्मों का खिरना या नाश होना अकाम निर्जरा है। ज्ञानपूर्वक तप आदि क्रियाओं के द्वारा कर्मों का नाश करना सकाम निर्जरा है। अकाम का अर्थ कामना रहित है। सकाम का अर्थ कामना युक्त है। अकाम निर्जरा में परवश होकर क्षुधा तृषा आदि अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करने से यह निर्जरा होती है। इच्छा के विरुद्ध जो भी भूख-प्यास आदि सहन किया जाता है। कायक्लेश मात्र से कर्मक्षय करने वाले अन्यमतावलम्बी अकाम निर्जरा ही करते हैं। जिनमत के अनुयायी भी अकाम निर्जरा पूर्वक शरीर को छोड़कर व्यन्तर आदि बनते हैं। अकाम निर्जरा से कभी मोक्ष फल की प्राप्ति नहीं होती। अकाम निर्जरा जीव अज्ञानी अवस्था में करता है। अत: वह करोड़ों वर्षों

में जितने कर्मों को खपाता है, उतने कर्मों को ज्ञानी जीव क्षणमात्र में नष्ट कर देता है। क्षणमात्र में ज्ञानी त्रिगुप्ति से गुप्त होकर ही कर्मों का क्षय करता है।[11] अकाम निर्जरा से भिन्न सकाम निर्जरा में तप की मुख्यता साधक रखता है। वह आध्यात्मिक कामना से तप करता है। तप में भी सभी आध्यात्मिक क्रियाएँ आ जाती हैं। तप शरीर को ही कृश नहीं करता, वह अन्तर में स्थित कषायों को भी कृश करता है। कर्मों को कृश करने से आत्मा निर्मल बनता है।

निर्जरा अनुप्रेक्षा का चिंतन तप के प्रति गहरी निष्ठा पैदा करता है। आत्मा में विशिष्ट विशुद्धता आती है। आत्मा से कर्मों का एकदेश क्षय करती है। पूर्वोक्त सविपाक और अविपाक निर्जरा की यह भी विशेषता है कि सविपाक काल चारों गतियों में होती है, किन्तु अविपाक निर्जरा व्रती मनुष्यों के ही होती है।[12] स्वकाल निर्जरा में बंधे हुए कर्म अपने आबाधाकाल तक सत्ता में रहकर उदयकाल आने पर अपना फल देकर झड़ते हैं। जैसे वृक्ष पर पका हुआ फल अपने समय पर टपक पड़ता है। दूसरी अविपाक निर्जरा द्वादश तपों से होती है। जैसे कच्चे आमों को पाल में पका लिया जाता है, उसी प्रकार कर्मों को तपस्यापूर्वक उदयावली में समय से पूर्व लाकर क्षय कर देना अविपाक निर्जरा है।

सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्त-क्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः॥ त. सू. 9/45

इस सूत्र द्वारा आचार्य गिद्धपिच्छ उमास्वामी ने सम्यग्दृष्टि से लेकर केवली जिन तक के 10 स्थानों में असंख्यातगुणी निर्जरा का कथन किया है।[13] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में विशेषता है कि केवलीजिन के सयोग और अयोग की विवक्षा से दो स्थान वर्णित हैं। अतः असंख्यातगुणी निर्जरा के एकादश स्थान माने गये हैं, उन्हीं को प्रतिपादित करते हुए आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने कहा है-

मिच्छादो सद्दिट्ठी असंख-गुण-कम्म-णिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवय-धारी तत्तो य महव्वई णाणी॥
पढम-कसाय-चउण्हं विजोजओ तह य खवय-सीलो य।
दंसण-मोह-तियस्स य तत्तो उवसमग-चत्तारि॥

खवगो य खीण-मोहो सजोइणाहो तहा अजोईया।
एदे उवरिं उवरिं असंख-गुण-कम्म णिज्जरा।।

-कार्तिकेयानुप्रेक्षा 106-108

मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि के असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है। सम्यग्दृष्टि से अणुव्रतधारी के असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है। अणुव्रतधारी से ज्ञानी महाव्रती के असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है। महाव्रती से अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करने वाले के असंख्यातगुणी कर्म-निर्जरा होती है। उससे दर्शनमोहनीय का क्षपण-विनाश करने वाले के असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है। उससे उपशम श्रेणी के आठवें, नौवें तथा दशवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय का उपशम करने वाले के असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है। उनसे ग्यारहवें गुणस्थान वाले उपशमक के असंख्यात गुणी कर्म-निर्जरा होती है। उससे क्षपक श्रेणी के आठवें नौवें और दसवें गुणस्थान में चारित्र मोहनीय का क्षय करने वाले के असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है। उससे बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान वाले के असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है। उससे सयोग केवली के असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा होती है और उससे असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा अयोग केवली के होती है।

यहाँ यह विशेष ध्यातव्य है कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के सम्मुख सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव के जितनी निर्जरा होती है, उससे असंख्यातगुणी निर्जरा सम्यग्दृष्टि के होती है। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव की यह गुणश्रेणी निर्जरा सम्यग्दर्शन के उत्पत्तिकाल में ही होती है, अन्य समय में नहीं।

ऊपर हम यह स्पष्ट करके आये हैं कि जिन-जिन स्थानों में विशेष-विशेष परिणाम विशुद्धि है, उन-उनमें निर्जरा भी अधिक-अधिक होती है। ऐसे ग्यारह स्थान हैं। ग्यारहवां स्थान अयोग केवली का है, किन्तु टीकाकार ने सयोगकेवली के ही दो भेद करके स्वस्थान सयोग केवली का दसवां स्थान और समुद्घातगत सयोग केवली का ग्यारहवां स्थान बतलाया है।

अविपाक निर्जरा के दश स्थानों को तत्त्वार्थसूत्रकार ने वर्णित किया है, उनका चिन्तन साधक निर्जरा भावना के माध्यम से करता है कि

जब मिथ्यात्व को नष्ट करने वाली शक्ति प्राप्त होती है तब मिथ्यात्व प्रकृति के मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति रूप तीन खण्ड होते हैं। जैसे कूटी जाने वाली धान में छिलका, कण और चावल ये तीन खण्ड होते हैं। मिथ्यात्व के एक खण्ड रूप सम्यक्प्रकृति नामक खण्ड का वेदन करता हुआ यह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि होता है। इसके बाद जो प्रशम, संवेग आदि गुणों से युक्त है तथा जिनेन्द्र भक्ति से जिसकी भावनाओं की विशेष वृद्धि हो रही है। ऐसा मनुष्य जहां केवली भगवान् होते हैं या श्रुतकेवली होते हैं, वहां दर्शनमोह की क्षपणा प्रारंभ करता है, क्षायिक सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि ही प्रथम स्थान गुणश्रेणी निर्जरा को प्राप्त होता है। आगे असंख्यातगुणी-असंख्यातगुणी होने वाली निर्जरा का विवेचन किया जा चुका है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षाकार निर्जरा करने वालों का विवेचन करते हुए कहते हैं-

जो विसहदि दुव्वयणं साहम्मिय हीलणं च उवसग्गं।
जिणिऊण कसाय-रिडं तस्स हवे णिज्जरा विउला॥

-कार्तिकेयानुप्रेक्षा 109

जो मुनि कषाय रूपी शत्रुओं को जीतकर दूसरों के दुर्वचन अन्य साधर्मी मुनियों के द्वारा किये गये अनादर और देव आदि के द्वारा किये गये उपसर्ग को सहता है, उसके बहुत निर्जरा होती है।

जो परीषह सहन करता है। रत्नत्रय की सम्यक् परिपालना करता है, उसके भी विशेष निर्जरा होती है।[14] जो मुनि समतारूपी सुख में लीन हुआ बार-बार आत्मा का स्मरण करता है। इन्द्रियों और कषायों को जीतने वाले साधु के उत्कृष्ट निर्जरा होती है।[15] और भी कहा गया है- जिन्होंने कषाय शत्रुओं को जीत लिया है, दूसरों के दुर्वचनों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं। जो अपने आत्मस्वरूप में लीन होते हुए शरीरादि के दोषों का चिन्तन करके उससे निर्मम होते हुए मोह को दूर करते हैं। रत्नत्रय की सम्यक् परिपालना करते हैं। द्वादश तपों की निर्दोष निष्काम आराधना करते हैं, ऐसे महामुनि निर्जरा के पूर्ण अधिकारी हैं।

उक्त वर्णित संवर और निर्जरा अनुप्रेक्षाएं मोक्ष की साधिका हैं।

इनमें किया जाने वाला चिन्तन आत्मा की विशुद्धि तो बढ़ाता ही है साथ में नूतन कर्मों के आस्रव को रोकता है और आत्मा के साथ बद्ध कर्मों की एकदेश निर्जरा करता है। संवर-निर्जरा साक्षात् मोक्षप्राप्ति में निमित्त बनकर अक्षय-अनन्त सुखप्राप्ति के साधन हैं।

सन्दर्भ :

1. शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा, अधिगतार्थस्य मनसाध्यासोऽनुप्रेक्षा। सर्वार्थसिद्धि।
2. तत्त्वार्थसूत्र 9/7
3. एदे संवर हेदू वियारमाणो वि जो ण आयरइ।
   सो भमइ चिरं कालं संसारे दुक्ख-संतत्तो।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा 100
   अनुप्रेक्ष्यन्ते शरीराद्यनुगतत्वेन स्तिमितचेतस्य दृश्यन्ते इत्यनुप्रेक्षा। अनगार धर्मामृत
4. तत्त्वार्थवार्तिक भाग-2 (आ. सुपार्श्वमती कृत टीका) पृ. 570
5. गुत्ती जोग-णिरोहो समिदी य पमाद वज्जणे चेव।
   धम्मोदया पहाणो सुत्ततचिंता अणुप्पेहा।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा 97
6. कार्तिकेयानुप्रेक्षा 98
7. वही 99
8. सम्मत्तं देस-वयं महव्वयं तह जओ कसायाणं।
   एदे संवरणामा जोगाभावो तहा चेव। कातिकेयानुप्रेक्षा 95
9. गुत्ती समिदी धम्मो अणुवेक्खा तह य परीसह जओवि।
   उक्किट्ठं चारित्तं संवर हेदू विसेसेण।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा 96
10. तत्त्वार्थवार्तिक भाग 2 (आ. सुपार्श्वमती टीका) पृ. 570
11. प्रवचनसार 3/38
12. सा पुण दुविहा णेया सकालपत्ता तवेण कयमाणा।
    चादुगदीणं पढया वयजुत्ताणं हवे विदिया।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा 104
13. तत्त्वार्थसूत्र 9/45
14. कार्तिकेयानुप्रेक्षा 110-111
15. जो समसोक्खणिलीणो वारं वारं सरेइ अप्पाणं।
    इंदिय-कसाय-विजई तस्स हवे णिज्जरा परमा।। कार्तिकेयानुप्रेक्षा 114

-अध्यक्ष, अ. भा. दिगम्बर जैन शास्त्रिपरिषद्,
बड़ौत (उ.प्र.)

*****

आत्मसाक्षात्कार में कायोत्सर्ग का महत्त्व

-डॉ. योगेश कुमार जैन

साधना के क्षेत्र में धर्म और योग इन दो क्रियाओं का सर्वाधिक प्रचलन आदिकाल से ही रहा है। योग की परम्परा अद्यतन निर्दोष है, परन्तु धर्म के साथ अनेक कर्मकाण्ड जुड़ गये। कालक्रम के अनुसार योग की अनेक शाखाएं प्रचलित हो गईं, यथा अध्यात्मयोग, ध्यानयोग, राजयोग आदि। चूंकि जैनाचार्य अनेकान्तवादी दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं। अत: उन्होंने किसी एक शाखा को प्राथमिकता न देकर सबका समन्वय ही किया है।

योग का आधार है गुप्ति

जैन साधना पद्धति में मन-वचन-काय की एकाग्रता को ही गुप्ति अथवा कायोत्सर्ग कहा जाता है। अत: जैन साधना पद्धति का प्रथम सोपान कायोत्सर्ग है तथा ध्यान दूसरा। कायोत्सर्ग की सिद्धि होने पर ही ध्यान का विकास सम्भव है। जैन परम्परा में मोक्ष की आराधना के दो मार्ग हैं, श्रावक धर्म एवं मुनि धर्म। श्रावकों के लिए यथा देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम की साधना, तप और दान ये छ: आवश्यक कर्तव्य निर्धारित हैं। उसी प्रकार मुनिचर्या के निर्दोष पालन हेतु आगमाधारित छ: आवश्यक कर्तव्य बताये गये हैं- सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है- काया का उत्सर्ग। काया को अप्रकम्प कर धर्म्य-शुक्ल ध्यान में लीन हो जाना ही कायोत्सर्ग है। यह ध्यान की अनिवार्य आवश्यकता है।

कायोत्सर्ग का लक्षण

कायोत्सर्ग को परिभाषित करते हुये आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार में कहते हैं कि-

कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं।
तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्विअप्पेण।।[1]

अर्थात् काय आदि पर द्रव्यों में स्थिर भाव छोड़कर, जो आत्मा को निर्विकल्परूप से ध्याता है, उसे कायोत्सर्ग कहते हैं। मूलाचार में कायोत्सर्ग को परिभाषित करते हुये कहा है कि- 'दैवसिक निश्चित क्रियाओं में यथोक्त कालप्रमाण पर्यन्त उत्तम क्षमा आदि जिनगुणों को भावना सहित देह में ममत्व को छोड़ना ही कायोत्सर्ग है।[2] योगसार के अनुसार देह को अचेतन, नश्वर व कर्मनिमित्त समझकर जो उसके पोषण आदि के अर्थ कोई कार्य नहीं करता वह कायोत्सर्ग का धारक है। जैनदर्शन में कायोत्सर्ग के दो अर्थ किये जाते हैं- कायोत्सर्ग तप और काय का शिथिलीकरण।

कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ

शरीर का शिथिलीकरण। इससे शून्यता का अभ्यास होता है और एकाग्रता बढ़ती है। काय के पर्यायवाची शब्दों के संदर्भ में आचार्य भद्रबाहु द्वितीय द्वारा रचित कायोत्सर्ग प्रकरण में कहा है कि-

काए सरीर देहे बुंदी चय उवचय य संघए।
उस्सय समुस्सए वा कलेवरे भत्थ तण पाणू॥
उस्सग्ग-विउस्सरणा उज्झणा य अविकरण-छड्डण-विवेगो।
वज्जण-चयणुम्मुअणा परिसाडण-साडणा चेव॥[3]

अर्थात् काय, शरीर, देह, बोन्दि, चय, उपचय, संघात, उच्छ्रय, समुच्छ्रय, कलेवर, भस्त्रा, तनु और पाणु। इसी प्रकार उत्सर्ग के पर्यायवाची ग्यारह हैं- उत्सर्ग, व्युत्सर्जन, उज्झन, अविकरण, छर्दन, विवेक, वर्जन, त्यजन, उन्मोचना, परिषातना और शातना।

इस प्रकार से काय एवं उत्सर्ग के पर्यायवाची शब्दों का विवेचन प्राप्त होता है। यह कायोत्सर्ग दो प्रकार का है- चेष्टा और अभिभव। भिक्षाचर्या आदि प्रवृत्ति के पश्चात् कायोत्सर्ग करना 'चेष्टा' कायोत्सर्ग है और प्राप्त उपसर्गों को सहन करने के लिए कायोत्सर्ग करना 'अभिभव' कायोत्सर्ग है।[4] अभिभव कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल एक वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है।

कायोत्सर्ग के भेद एवं स्वरूप

जैनधर्म-दर्शन में कायोत्सर्ग का सम्बन्ध केवल शरीर से न होकर आत्मा से है। अतः इसका महत्त्व स्वतः सिद्ध है। मूलाचार में कायोत्सर्ग के

भेद बताते हुये आचार्य वट्टकेर कहते हैं कि-

उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठ उट्ठिदो चेव।
उवविट्ठदणिविट्ठोवि य काओसग्गो चदुट्ठाणो।।[5]

अर्थात् अत्थितात्थित (अत्थित-अत्थित), उत्थित विनष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्ट निवष्ट। इस प्रकार कायोत्सर्ग के चार भेद हैं।

कायोत्सर्ग प्रकरण में भेदों का विवेचन करते हुये नौ भेदों का विवेचन किया है। यथा-

उसिउस्सिओ य तह उसिसओ अ उस्सिअनिसन्नओ चेव।
निसननउसिओ निसन्नो निसन्नगनिसन्नओ चेव।।
निवन्नुसिओ निवन्नो निवन्नगनिवननगो अ नायव्वो।
एएसिं तु पयाणं पत्तेयपरूवणं वोच्छं।।[6]

अर्थात् उच्छ्रित-उच्छ्रित, उच्छ्रित, उच्छ्रित-निषण्ण, निषण्ण-उच्छ्रित, निषण्ण, निषण्ण-निषण्ण, निषन्न-उच्छ्रित, निषन्न (सुप्त), निषन्न-निषन्न ये सभी कायोत्सर्ग के भेद हैं।

उच्छ्रित-उच्छ्रित अथवा उत्थितोत्थित

जो साधक किसी एक विवक्षित स्थान पर खड़े होकर धर्म और शुक्ल ध्यान में प्रवृत्त होता है, उसके उच्छ्रित-उच्छ्रित नाम का कायोत्सर्ग होता है। खड़े होकर कायोत्सर्ग करना द्रव्य उच्छ्रित है और धर्म-शुक्ल ध्यान रूप भाव का होना भाव कायोत्सर्ग है।[7]

उच्छ्रित

जो साधक आर्त्त-रौद्र अथवा धर्म और शुक्ल किसी भी ध्यान में प्रवृत्त नहीं होता, उसके यह द्रव्य उच्छ्रित कायोत्सर्ग होता है। यहाँ ध्यान का अभाव होने से भाव उच्छ्रित कायोत्सर्ग है।[8] जो साधक स्वभावतः प्रचलायमान और सुषुप्त है वह न शुभध्यान में प्रवृत्त होता है और न अशुभ में। इसी प्रकार अव्यापारित चित्त वाला साधक जागता हुआ भी शुभ-अशुभ दोनों ध्यान में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि निद्रावस्था और सुषुप्तावस्था में ध्यान का अभाव और जागृत अवस्था में चित्त का अव्यापार। अतः ध्यान का अभाव होने से कोई भी ध्यान नहीं होता। नवजात, मूर्च्छित, अव्यक्त, मत्त और सुप्त- इनका चित्त स्थगित और अव्यक्त होता है तथा आलंबन में प्रगाढ़

रूप से संलग्न होकर चित्त की निष्प्रकम्प अवस्था में ही ध्यान होता है। आलंबन में मृदु भावना से संलग्न, अव्यक्त और अनवस्थित चित्त की अवस्था को ध्यान नहीं कहा जा सकता है।[9]

उच्छ्रित-निषण्ण अथवा उत्थित निविष्ट

जो साधक कायोत्सर्ग पूर्वक खड़ा होकर आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान करता है उसके उच्छ्रित-निषण्ण कायोत्सर्ग होता है।[10]

निषण्ण-उच्छ्रित अथवा उपविष्टोत्थित

जो साधक बैठकर धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान में संलग्न होता है, उसके निषण्ण-उच्छ्रित अथवा उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग होता है।[11]

निषण्ण

जो साधक आर्त्त, रौद्र, धर्म अथवा शुक्ल किसी भी ध्यान में संलग्न नहीं होता, उसके निषण्ण कायोत्सर्ग होता है।[12]

निषन्न-निषन्न अथवा उपविष्टोपविष्ट

जो साधक बैठकर आर्त्त और रौद्र ध्यान में संलग्न होता है, उसके निषन्न-निषन्न अथवा उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग होता है।[13]

इस प्रकार यह निश्चित होता है कि कायोत्सर्ग बैठे-बैठे अथवा खड़े-खड़े दोनों अवस्थाओं में संभव है। कायोत्सर्ग को मानसिक अथवा कायिक इन दो भेदों से भी समझा जा सकता है।

मानसिक और कायिक कायोत्सर्ग की विधि

मूलाचार में आचार्य वट्टकेर लिखते हैं कि-

बोसरिदबाहुजुगलो चदुरंगुलअंतरेण समपादो।
सव्वंगचलणरहिओ काउसग्गो विसुद्धो दु॥
जे केई उवसग्गा देव माणुसतिरिक्खचेदणिया।
ते सव्वे अधिआसे काओसग्गे ठिदो संते॥
काओसग्गम्मि ठिदो चिंचिदु इरियावधस्स अतिचारं।
तं सव्वं समणित्ता धम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो॥[१४]

अर्थात् कायोत्सर्ग में संलग्न साधक कैसे एक स्थान पर खड़े होकर दोनों बाहुओं को लंबा करके पैरों के मध्य चार अंगुल का अंतर रखकर समपाद अवस्था में स्थिर होकर हाथ आदि का हलन-चलन नहीं करता,

उसके शुद्ध कायोत्सर्ग होता है। कायोत्सर्ग में संलग्न साधक चिंतन करता है कि मैं देव, मनुष्य, तिर्यंच तथा अचेतनकृत समस्त उपसर्गों को शांत चित्त से सहन करता हूँ। मुनि के लिए यह नियम है कि वह कायोत्सर्ग में धर्म तथा शुक्ल ध्यान का ही चिंतन करे। कायोत्सर्ग के काल में प्राणवायु को शरीर के भीतर प्रविष्ट करके, उसे आनंद से विकसित हृदयकमल में रोककर, जिनेन्द्र मुद्रा के द्वारा महामंत्र णमोकार का ध्यान करना चाहिए। मंत्र के दो-दो तथा एक-एक अंश को पृथक्-पृथक् चिन्तन करके अन्त में उस प्राणवायु को धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। इस प्रकार नौ बार प्रयोग करने वाले के चिरसंचित महान् कर्मराशि भस्म हो जाती है। प्राणायाम में असमर्थ साधक वचनों के द्वारा भी उस मंत्र का जाप कर सकता है, परन्तु जाप अत्यंत धीमे स्वर में होना चाहिए, जिससे उसे कोई न सुने। आचार्यों का यहां स्पष्ट कथन है कि वाचनिक और मानसिक कायोत्सर्ग में महान् अंतर है। दण्डों के उच्चारण की अपेक्षा सौ गुणा पुण्य संचय वाचनिक जाप में होता है और हजार गुणा मानसिक जाप में।[15]

कायोत्सर्ग के योग्य दिशा और क्षेत्र

पाचीणोदीचिमुहो चेदिमहुत्तो व कुणदि एगंते।
आलोयणपत्तीयं काउसग्गं अणाबाधे।।[16]

अर्थात् साधक को कायोत्सर्ग में बैठने के पहले दिशा और क्षेत्र का ध्यान इस प्रकार रखना चाहिए। साधक को उत्तर दिशा की ओर मुँह करके अथवा आराध्य देव की प्रतिमा की ओर मुँह करके स्वकृत दोषों की आलोचना के लिए कायोत्सर्ग करता है। कायोत्सर्ग सर्वदा एकान्त स्थान में, अबाधित स्थान में अथवा जहां किसी का आना-जाना न हो ऐसे अमार्ग स्थान में करना चाहिए।

कायोत्सर्ग के काल का प्रमाण

कायोत्सर्ग प्रतिदिन एवं अवसरानुसार भी किया जाता है। उत्कृष्ट कायोत्सर्ग का काल एक वर्ष तथा जघन्य काल अंतर्मुहूर्त है तथा शेष कायोत्सर्ग दिन-रात्रि आदि के भेद से अनेक प्रकार का है। मूलाचार में अवसरानुसार कायोत्सर्ग के काल का प्रमाण इस प्रकार निर्धारित किया है[17]-

क्र.	अवसर	उच्छ्वास
1.	दैवसिक प्रतिक्रमण	108
2.	श्रात्रिक प्रतिक्रमण	54
3.	पाक्षिक प्रातिक्रमण	300
4.	चातुर्मासिक प्रतिक्रमण	400
5.	वार्षिक प्रतिक्रमण	500
6.	हिंसादिरूप अतिचार में	108
7.	भिक्षा चर्या जाने पर	25
8.	निर्वाण भूमि जाने पर	25
9.	अर्हत् शय्या	25
10.	अर्हत् निषद्यका	25
11.	श्रमण शय्या	25
12.	लघु व दीर्घ शंका	25
13.	ग्रन्थ के आरंभ में	27
14.	ग्रन्थ की समाप्ति पर	27
15.	वन्दना काल में	27
16.	अशुभ परिणाम	27
17.	कायोत्सर्ग के श्वास भूल जाने पर	8 अथवा अधिक

कायोत्सर्ग का प्रयोजन अथवा फल

कायोत्सर्ग का फल बताते हुये आचार्य कहते हैं कि-

काओसग्गं इरियावहादिचारस्स मोक्खमग्गम्मि।
बोसट्ठचत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए॥
काओसग्गम्हि कदे जह भिज्जदि अंगुवेगसंधीओ।
तह भिज्जदि कम्मरयं काउसग्गस्स करणेण।[18]

अर्थात् साधक अथवा मुनि गमनकाल में अबुद्धि पूर्वक हुये ईर्यापथ के अतिचार को सोधने के लिए तथा पूर्वोक्त अवसरों पर संभावित दोषों के निवारण के लिए मोक्षमार्ग में स्थित शरीर में ममत्व को छोड़ने वाले मुनि दु:ख के नाश करने के लिए कायोत्सर्ग करते हैं। कायोत्सर्ग करने पर यथा

अंगोपांगों की संधियाँ भिद जाती हैं, उसी प्रकार कायोत्सर्ग से कर्मरूपी धूली भी आत्मा से पृथक् हो जाती है। कायोत्सर्ग करने वाला साधक कायबल और आत्मशक्ति का आश्रय करके क्षेत्र, काल और स्वसंहनन इनके बल की अपेक्षा कर कायोत्सर्ग में कहे गये दोषों का त्याग करता हुआ इसमें प्रवृत्त हो। ऐसा करने पर साधक को अतिचार का दोष नहीं लगेगा। अतिचार के संदर्भ में आचार्य कहते हैं कि अपनी शक्ति और आत्मबल के अनुसार ही कायोत्सर्ग करना चाहिए। जो साधक अपनी सामर्थ्य को छिपाता है, उसे मायाचार का दोष लगता है।

इस प्रकार मोक्ष सुख प्रदान कराने में समर्थ कारण होने से कायोत्सर्ग का महत्त्व स्वतः सिद्ध है, क्योंकि मोक्ष ही प्रत्येक साधक का अन्तिम लक्ष्य है और साधना की पूर्णता भी मोक्ष में ही है।

संदर्भ-

1. नियमसार, गाथा 121
2. देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
   जिणगुण चिंतणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गो।। मूलाचार, गाथा 28, राजवार्तिक, 6/24/11/530/14, भगवती आराधाना, 6/32/21, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 467-68।
3. कायोत्सर्ग प्रकरण, गाथा 1-2
4. कायोत्सर्ग प्रकरण, गाथा 3
5. मूलाचार, गाथा 673, भगवती आराधना, 116/278/27
6. कायोत्सर्ग प्रकरण, गाथा 10-11
7. मूलाचार, गाथा 674, कायोत्सर्ग प्रकरण, गाथा 30
8. कायोत्सर्ग प्रकरण, गाथा 31
9. मूलाचार, गाथा 674 तथा कायोत्सर्ग प्रकरण, गाथा 33-34
10. मूलाचार, गाथा 675 तथा कायोत्सर्ग प्रकरण, गाथा 40
11. मूलाचार, गाथा 676 तथा कायोत्सर्ग प्रकरण, गाथा 41
12. कायोत्सर्ग प्रकरण, गाथा 42
13. मूलाचार, गाथा 677 तथा कायोत्सर्ग प्रकरण, गाथा 43
14. मूलाचार, गाथा 650, 655, 664
15. अनगार धर्मामृत, 9/22-24

16. मूलाचार, गाथा 550
17. मूलाचार, गाथा 656-661
18. मूलाचार, गाथा 662, 666

-सहायक आचार्य
जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ (राजस्थान)

*****

SUBSTANCE INDEPENDENCY (वस्तु स्वातन्त्र्य) IN SAMAYASARA

-Dr. Dileep Dhing

The Jaina tradition comprises of two basic *Dravya*s – ***Jiva*** and ***Ajiva.*** The classification of *Ajiva* in five kinds, makes the number of *Dravya*s as Six. Each and every *Dravya* is self independent may be it *Jiva* or *Ajiva* or any sub-division of *Ajiva*. The independency of the objects is described through various *yukti*s in Samayasara. Acarya Kundakunda has enlightened various factors, based on independency of the objects, *Atma-Anatma, Svasamaya-Parasamaya, Nishcaya-Vavahara, Nimitta-Upadana, Karta-Bhokta, Akarta-Abhokta, Navatattva, Triratna (Jnana, Darshana, Caritra)* etc. Before understanding the actual gist of the Samayasara it is essential to understand the Principle of the independency of the object.

PATH OF INDEPENDENCY

The mundane world comprises of six *Dravya*s – *Dharmastikaya, Adharmastikaya, Akashastikaya, Jivastikaya, Pudgalastikaya* and *Kala,*. All the *Dravya*s lie along with their own nature. It has been said in the Samayasara that – I am the Soul with *Upayoga Guna* and is not in any manner related to the *Dravya*s and *Para-Dravya*s -

Natthi mama AdI bujjhadi uvaoga eva ahamekko |

Tam dhammanimmamattam samayassa viyanaya benti ||[1]

I am a Soul, I am a pure Soul, I have no regard with any of the non-self *Dravya*s and sentimental attachment; such a knowledge and belief is declaring the Independence of the Soul and also the path of Independent Soul. Acarya Kundakunda here raises the question – A *Dravya* performs the work of other, intervenes the independence of others, experiences the *Karma*s, then what is the meaning of the independency of the *Dravya*? It

has been narrated in Samayasara as every *Dravya* is magnificent in its individual independent form. In spite of being mutually closer to each other all the objects do remain separated. This situation creates discord among the story of Bondage - ***Bandakaha eyatte teNa visanvadini hodI***[2]

Acarya Kundakunda again raises a question here that – why the Soul is dependent on non-self in spite of each object being considered as independent? As a response to this question Acarya says – from the Absolute point of view the Soul is completely independent. But the Practical point of view is hindering the independency of the Soul. It is essential to be aware of self dependency to rescue from the cap of non-self dependence.

FOUNDATION OF NON-VIOLENCE

The Soul independency or the Materialistic independence is the fundamental base for the principle of Non-Violence. One who desires respect has to respect the independency of others as well. In other terms, ***Mumukshu*** – one who is about to take up monkhood should walk on the path of the Liberation. If at all the object is not free from its nature then its independency is synthetic. Synthetic independence cannot be constant. The Jaina tradition believes that the independence of the object is its nature. Since the independence is the object's nature, the non-violence dwelling out of it is natural virtue.

The fundamental nature of an object is eternal and universal. According to Dr. Dayanand Bhargava –

1. The logic of *Ahimsa* is – as the suffering is undesired by me is as by others.

2. The system of philosophy of *Tattva* is I cannot curb independence of any of the object.

The logic can be replaced by stronger one, but, there is no alternative for the *Tattva Mimamsa*. The credit of making Non-violence the system of Philosophy lies with Acarya Kundakunda's great work

Samayasara. The *Ahimsa* based on the system of philosophy became unexceptional Religion[3].

Do I have the Right to harm any being or not – the alternates are or can be presented in this regard. It can be said as up to certain limit and extent I can curb the independence of other beings. But the independence is the birth right of every being and curbing it is out of my capacity – this situation there is no any sought of questioning. I cannot harm any being instead I can only blacken my Soul with the alternative of the affection, hatred, attachment etc. The practice of Non-violence is smooth when the concept of *Ahimsa* religion is understood through *Tattva* and Conduct.

FOUNDATION FOR VOWS

Non-Violence is the prime and prominent vow among all the vows. All the other vows are supporting elements for the practice of *Ahimsa*. Like *Ahimsa* all the other vows – *Aparigraha, Acaurya, Satya* and *Brahmacarya* are based on *Tattva – Mimamsa*. Neither stealing and consuming nor enjoying non-self *Dravya* is not my nature. Considering the non-self *Dravya* and non-self sentiments as mine or as the Soul is trespassing the Truth, from the Absolute point of view[4]. Acarya Kundakunda says that the Possession of Religion as well as objects also pacifies the sentiments of the Soul which is non-acceptable[5]. The path of practicing all vows – *Ahimsa, Satya, Acaurya* etc. are enlightened by being stable or wandering within the self.

The practice of independence involves renunciation of wishes. Because of wishes the person deeply involves into it and enjoys the objects and activities. The sentiment of independence helps in practicing Vows whereas the sentiments of non-self dependence help in non-practicing Vows. One who practices the vows without interest remains faultless and doubtless[6]. This results in self dependency and bondage free life of that person.

FREEDOM OF VOLUNTARY ACTION

The Soul is itself responsible for the good, evil and pure sentiments. One may not be able to cause good to anyone through action but can make his self thoughts good or bad. The person can have pure thought beyond good and bad and remain stable in it. In Samayasara, stress has been laid upon pure utility. Being constant in self utility is a person's cautious effort. This cautiousness itself is practice and independence. If anyone says the occurrence of good and bad thoughts is due to rise of *Karma*s then it shall be like rejecting the fact that the Soul is pertaining within its nature – ***Svabhavsiddha***.

The accuser of the Deity says the cause behind all happenings is lord's wish. This is not true as per Jaina philosophy. According to Jaina philosophy – the saying of a *Karmavadi* – what can I do if the sentiments arose are good or bad due to dawn of *Karma*s, is non-acceptable. The Soul is the Doer of itself and its nature. This philosophy of self Doer is the base for Spirituality and Practice. The Soul is not prepared to do any other non-self *Dravya* and sentiments. Tampering the wander of non-self *Dravya* is impossible. This is the base for independency of the object.

According to Acarya Kundakunda every Soul wanders within its quartet from the realistic point of view. None of the Soul interferes into other Soul's quartet. Acarya Kundakunda states the Soul as Creator – *Karta* and *Bhokta*[7]. The Soul was never the *Karta* of non-self, nor shall it at present and shall never be in future. From the point of view of nature of the object non-self *Kartrutva* and non-self *Bhoktrutva* is impossible. Non-self *Kartrutva* and non-self *Bhoktrutva* causes harm to independence and inspires non-self dependence.

DISTINGUISHING FROM NON-SELF

None of the non-self entities are neither the cause for origin of Soul nor its annihilation. The *Cetana* of the Soul itself makes it to be identified indifferently. The Soul is different from the *Indriya*s – Sense

organs. It does not taste it, do not see the beauty, never smell nor uses the word. It is different from the ***Rasa, Roopa, Gandha, Shabda, Sparsha***, etc.[8] The Soul is eternal, immortal and entirely independent *Caitanya Dravya*.

Acarya Kundakunda opines that the Soul is not originated from anything, hence, it is not the *Karya* – task; it does not generate anything and hence it is not the *Kaarana* – cause. It is known to be *Karta* from the refuge of *Karma*. Thus, all *Dravya* in-spite of being independent seems to appear as non-self dependent externally.

Acarya Kundakunda opines that for the Soul to rescue from the non-self dependence it has to essentially give up the non-self sentiments such as affection, hatred, etc. Do not consider the non-self *Dravya* as own at all. Such consideration itself is *Paratantrata*. The person considers non-self sentiments and *Dravya* as its own in the absence of knowledge of the true nature of the *Padartha*.

Whereas from the Absolute point of view, the person with knowledge of *Paramanu* do not consider even a single atom as self[9] –
Na vi atthi majjha kinci vi annam paramaanumettam pi |

At the stage of Liberation the Soul remains in its self nature, whereas, being in the mundane world its stage is towards downfall. Self independence lies with remaining constant in self nature.

KARMA AND SOUL

The *Karma* bondage to the Soul is from the view point of various stages and not the real point of view. The *Karma* is not the cause for Bondage but it is the affection towards the *Karma*s. The employee working under an entrepreneur is not affected by the profit or loss caused to the firm, because he has no affection towards the firm. On the other hand, the entrepreneur is affected by the profit or loss in-spite of doing nothing[10]. Hence it is clear that the *Karma*s do not bound anyone but it is the affection the person have towards the *Karma* leads him to be non-self dependent.

There are two reasons for the negative status of the Soul – *Pudgala* and *Jiva*. The *Jiva* in its pure form is free from ***Ananta Darshana, Ananta Jnana, Ananta Sukha, Ananta Veerya***[11]. The activities filled with attachment, hatred, etc. are neither of the Pure Soul nor the *Pudgala*. In the similar manner, experiencing the limited knowledge, joy and sorrow, limited strength are the qualities of neither the Pure Soul nor the *Pudgala*. These are all the qualities of the Soul of the mundane world but these are the various stages of the Soul bound with *Karma*s in the mundane world[12].

The capacity of motion is only in *Jiva* and *Pudgala*. The activities visible on the scaffold of the mundane world are the outcome of the activities of the *Jiva* and *Pudgala* together[13]. The *Jiva* completely free from the *Pudgala* is only in the stage of wandering within the self and not in the position to bind new *Karma*s. The cause for the destruction of the Soul is its relationship with *Pudgala* and is also the cause for the bondage of *Karma*s. Acarya Kundakunda directs the practice for independence in-spite of being bonded.

The *Jiva* in-spite of possessing the capacity to see and know the things is unable to do so completely because of the bondage aligned with it[14] - ***Na vijaanadi savvado savvam.*** The subjugation covers the Knowledge, Faith, Happiness and such other qualities of the Soul; in-spite of that it remains unknown to the Soul because both the Soul and the *Karma* are too small that they are invisible to the eyes of the common man. Acarya Kundakunda says that the *Karma* is incarnate and minute, whereas, the Soul is immaterial and minute[15].

Since both the elements are minute, their process can be illustrated as a mixture of milk and water. Inspite of being two different entities the water and milk appears to be one when mixed. Unlike, the entity of the Milk is entirely different from water in a mixture, is as the Soul is from the *Karma*, from the Absolute point of view. Both the Soul and the *Karma* are independent.

THE ULTIMATE FREEDOM

Acarya Kundakunda says that as per the *Shuddha Naya* the Soul is completely free and untouched from the *Karma*s[16] - ***Suddhanayassa du jeeve abaddhaputtham havadi kammam***. Declaring the prime independence of the Soul Acarya Kundakunda says in Samayasara that the Soul is Independent or Dependent is all matter of various points of view; the fact is the Soul is *Nayateeta*[17], beyond *Naya*. Being *Nayateeta* means to become utmost independent. Being free from any problem, obstacle, or interference is the Soul's Independence, Prime Independence.

Narrating the prime Independence from the other point of view Acarya Kundakunda says – unlike the *Papa Karma*s make the Soul Dependent even the *Punya Karma*s also do the same in-spite of being good, favourable, likely and affectionative. All the *Karma*s are non-self and the attachment and contact with the non-self or *Pudgala* destructs the Self dependency -

***Sovanniyam pi niyalam bandhadi kalayasam pi jaha purisam* |**

***Bandhadi evam jivam suhamasuham va kadam kammam* ||**[18]

Kundakundacarya illustrates explaining that Bondage is Bondage itself let the shackles be of iron or gold. Hence, the actual independence is in being entirely free from bondage both the good and bad. According to Rai Bahadur J. L. Jaini -

¯From pure point of view, good and bad are equally undesirable, equally mundane and worthy of renunciation. The soul's safety lies in itself. Safety here does not lie in numbers. It lies in loneliness. The meditation of oneness of loneliness (Ekatva Anupreksha), has its teaching for its highest meaning. The soul must realize its full independence by realizing that it accomplishes its aim only when, and in so far as, it is absorbed in itself. Then alone, matter is important and non-self stands for aloof, incapable of attacking the soul or attaching itself to it. Any intermission of this self-

devotion is the immediate passport to the mundate wheel going on once again. [19]

The Soul in its pure form is the Prime Independence free from good and bad and Pure Soul is utmost independent. The one is utmost independent is free from all types of shelter of non-self. It is self sheltered and self ruling[20]. The Soul experiences completeness at the stage of Prime Independence.

INDEPENDENCE OF SOUL

I am always One, Pure and Unattached – ***Ahamekko khalu suddho***|[21] this notion appreciates the independence and Soul independence. The Soul independence involves everyone's independence. 'My independence' means independence of each and every being. Like me, everyone is independent. If anyone defends that I am independent, though keeping everyone under him – it is not called to be independence but despotic. The dependence is concluded in independence of Soul.

The independence and dependence of the Soul can also be understood through a Science illustration. The combination of two or more chemicals are mixed under a chemical action in favorable conditions, it leads to the creation of an entirely new chemical composite with an entirely indifferent characteristic. The composite being the cause for the chemical elements cannot be distinguished through physical experiment and there is a need of major chemical experiments to regain them[22].

The Chemistry professor can mix two chemicals and prepare a new chemical composite whereas no power can convert the Pure Soul into the Soul attached with the *Karma*s of the mundane world. The liberated Soul cannot be converted into the Soul of mundane world once liberated. Unlike the butter that is disable to retake its actual form of milk; in the similar manner, the Soul in its pure form, detached from the *Karma*s cannot be attached with *Karma*s again[23]. The elements believed to exist

in the Chemistry and Physics are all *Pudgala*. The *Karma*s are also non-living, *Pudgala* and non-self *Dravya*.

The *Pudgala* can be reconstructed through the composite chemical action or any natural activity, also combine and destruct them, but the case of *Jiva* is entirely different. Hence, the liberated Soul cannot be converted into the Soul attached with the *Karma*s of the mundane world. The *Jiva* and *Pudgala* cannot be converted into one another[24]. The unity of *Jiva* and *Pudgala* is impossible. Neither any unity nor an attachment of *Raga, Dvesha,* Moha, etc, exists with the Soul[25]. If such would have been the situation, then the independence of both the *Jiva* and *Pudgala* would not exist.

Thus, Samayasara is one of the philosophical element – the Independence of the substance, includes the *Sara* of the *Samaya* and the *Marga* of the *Moksha* – Path of Liberation. The possibility of the liberation is absent in the absence of the nature of independence of the substance, the *Vastu.*

References :-

1. *Natthi Mama Dhamma Adi* – Samayasara – Gaha 36 & 37
2. Samayasara Gaha 3 and its Commentary *Atmakhyati*.
3. *Samayasara ki Atmaparaka* Mimamsa – Dr. Dayananda Bhargava - Prakrit Vidya (October-December 1989). Published By Prakrit Adhyayana Prasara Sansthana, Udaipur.
4. Samayasara, Gaha 43
5. Samayasara, Gaha 210
6. Samayasara, Gaha 305
7. Bhavapahuda, Gaha 148
8. Samayasara, Gaha 49
9. Samayasara, Gaha 38
10. Samayasara, Gaha 187
11. Pravacanasara, Gaha 1/19
12. Pravacanasara, Gaha 2/29
13. Samayasara, Gaha 80-81
14. Samayasara, Gaha 160
15. Pancastikaya, Gaha 133
16. Samayasara, Gaha 141
17. Kammam Baddhamabaddham jive evam tu jana nayapakkham |
Pakkhadikkanto puna bhannadi jo so Samayasaro|| - Samayasara Gaha 142
18. Samayasara Gaha 146-147

19. Samayasara- English transalation by Rayabahaddua Sri J.L. Jaini – Page173. Published by The Central Jaina Publishing House, Ajitashrama, Lucknow,1930.

20. Samayasara, Gaha 214

21. Samayasara, Gaha 38 & 73

22. *Kundakundacarya ki pramukha krutiyon mein Darshanika Drishti* Sushma Gaanga, Page 184. Published by – Bharatiya Vidya Prakashana, Delhi, Varanasi – March 1982.

23. Dashashrutaskanda Gaha 5/15

24. Samayasara Gaha 25

25. Samayasara Gaha 113-115

-Director : International Centre for
Prakrit Studies & Research
'Sugan House' 18, Ramanuja Aiyer Street,
Sowcarpet, CHENNAI – 600001

******

देवदर्शन का महत्त्व

-डॉ. जयकुमार जैन

आचार्य समन्तभद्र ने चतुर्थ शिक्षाव्रत (वैयावृत्त्य) के अन्तर्गत देवपूजा को स्थान दिया है-

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥

-रत्नकरण्डश्रावकाचार, 119

अर्थात् वैयावृत्त्य नामक शिक्षाव्रत का अनुष्ठान करने वाले श्रावक को देवाधिदेव के चरणों में आदरसत्कारपूर्वक परिचर्या-पूजा को नित्य करना चाहिए। यह परिचर्या-पूजा सब दुःखों को हरने वाली, कामनाओं को पूरा करने वाली तथा काम को भस्म करने वाली है।

यहाँ पूजा के किसी मार्गविशेष का निर्देश नहीं किया गया है। परिचरण शब्द आदर-सत्कार रूप प्रवृत्ति का नाम है तथा यह आदर-सत्कार दर्शन, स्तवन, पूजन आदि किसी भी रूप हो सकता है। जैसा कि आचार्य समन्तभद्र ने स्वयं स्वयंभूस्तोत्र में निम्न पद्य द्वारा प्रकट किया है-

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥

(स्वयंभूस्तोत्र, 57)

ऐसा प्रतीत होता है कि पहले साधारण गृहस्थ भी बारह व्रतों का पालन करते थे। जब यह उत्तरोत्तर कम होने लगा तो श्रावकत्व को स्थिर करने के लिए जिन षट्कर्मों का विधान किया गया, उनमें देवपूजा को प्रथम स्थान दिया जाने लगा।

श्रावक जब शारीरिक शुद्धिपूर्वक स्वच्छ वस्त्र धारण कर अक्षतपुष्पादि से अर्चना करता है, तो उसे देवपूजा कहा जाता है; किन्तु जब स्तुतिपूर्वक वन्दन-नमन करता है तो देवदर्शन कहा जाता है। आज प्रत्येक जैन

अक्षत-पुष्पादि से पूजा करता हो या नहीं, वह प्रतिदिन देवदर्शन अवश्य करता है।

श्री अभ्रदेव ने व्रतोद्योतनश्रावकाचार में प्रारंभ में ही कहा है-

भव्येन प्रातरुत्थाय जिनबिम्बस्य दर्शनम्।
विधाय स्वशरीरस्य क्रियते शुद्धिरुत्तमा।। पद्य 2

अर्थात् भव्य पुरुष को प्रातःकाल उठकर शरीर की शुद्धि करके जिनबिम्ब का दर्शन करना चाहिए।

आचार्य पद्मनन्दी ने पञ्चविंशतिका में स्पष्टतया लिखा है-

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः।।

-उपासकसंस्कार पद्य 16

अर्थात् श्रावकों को प्रातःकाल उठकर भक्ति के साथ देव एवं गुरु का दर्शन और उनकी वन्दना करना चाहिए। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यदि गुरु उपलब्ध हों तो देवदर्शन एवं देववन्दना के समान गुरुदर्शन एवं गुरुवन्दना का विधान भी श्रावकाचार में आवश्यक माना गया है। सभी श्रावकाचारों में जिनेन्द्रदेव के दर्शन को जाते समय ईर्यासमिति से गमन करने का विधान किया गया है।

पं. आशाधर जी ने तथा कुछ अन्य श्रावकाचार प्रणेताओं ने जिनमन्दिर में 'निःसही' उच्चारण करते हुए प्रवेश का विधान किया है। यह परम्परा आज समाज में प्रचलित भी है, किन्तु किसी भी श्रावकाचार में इसका अर्थ स्पष्ट नहीं किया है। 'जैन बाल गुटका' में ज्ञानचन्द्र जैन लाहौर ने 1918 ई. में (आज से लगभग 98 वर्ष पहले) द्वितीय भाग में इसका अर्थ किया था कि यदि कोई देवादिक जिनेन्द्र भगवान् के दर्शन कर रहा हो तो वह निकल जाय या दूर हो जाय; परन्तु इसको पुष्ट करने वाला प्रमाण अद्यावधि दृष्टिपात नहीं हुआ है। विभिन्न शास्त्रों के आलोडन के आधार पर पं. हीरालाल शास्त्री ने निःसही को निषेधिका का पर्यायवाची मानते हुए लिखा है कि 'निस्सही' पद का रूप 'णमो णिसीहियाए' है और इसका प्राकृत में अर्थ है- 'इस जिनमंदिर को नमस्कार हो।' (श्रावकाचारसंग्रह भाग-4, प्रस्तावना पृष्ठ 155)

जिनेन्द्रदेव के दर्शन का महत्त्व :

फलं ध्यानाच्चतुर्थस्य षष्ठस्योद्यानमात्रतः।
अष्टमस्य तदारंभे गमने दशमस्य तु॥
द्वादशस्य ततः किञ्चिन्मध्ये पक्षोपवासजम्।
फलं मासोपवासस्य लभते चैत्यदर्शनात्॥
चैत्याङ्गणं समासाद्य याति षाण्मासिकं फलम्।
फलं वर्षोपवासस्य प्रविश्य द्वारमश्नुते॥
फलं प्रदक्षिणीकृत्य भुंक्ते वर्षशतस्य तु।
दृष्ट्वा जिनास्यमाप्नोति फलं वर्षसहस्रजम्॥
अनन्तफलमाप्नोति स्तुतिं कुर्वन् स्वभावतः।
न हि भक्तेर्जिनेन्द्राणां विद्यते परमुत्तमम्॥

(पद्मचरित, पर्व 32, श्लोक 178-182)

जब कोई व्यक्ति जाने का विचार करता है तो उसे चतुर्थभक्त अर्थात् एक उपवास का, जब चलने को उद्यत होता है तो षष्ठ भक्त अर्थात् दो उपवास का, जब जाने का उपक्रम करता है तो अष्टम भक्त अर्थात् तीन उपवास का, गमन प्रारंभ करता है तो दशभक्त अर्थात् चार उपवास का, कुछ चलने पर बारह भक्त अर्थात् पांच उपवास का, आधे मार्ग में पहुंचने पर एक पक्ष के उपवास का तथा जिनमंदिर पहुंच जाने पर छह माह के उपवास का, मंदिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का, प्रदक्षिणा करके सौ वर्ष के उपवास का तथा जिन मुद्रा का भावपूर्वक दर्शन करके एक हजार वर्ष के उपवास का फल प्राप्त करता है। जिनेन्द्रदेव की भक्ति से उत्कृष्ट फल अन्य कोई नहीं है। इसे संक्षेप में इस प्रकार देख सकते हैं-

मन में विचार	=	चतुर्थ भक्त	=	1 उपवास
उद्यत होना	=	षष्ठ भक्त	=	2 उपवास
गमन का उपक्रम	=	अष्टम भक्त	=	3 उपवास
गमन का आरंभ	=	दशम भक्त	=	4 उपवास
चलना (कुछ)	=	द्वादश भक्त	=	5 उपवास
अर्द्ध मार्ग पहुंचना	=	एक पक्ष	=	15 उपवास

जिनमन्दिर दर्शन	= एक माह	= 30 उपवास
जिनमन्दिर पहुंचना	= छह माह	= 180 उपवास
मंदिरद्वार पर पहुंचना	= एक वर्ष	= 360 उपवास
प्रदक्षिणा करने पर	= सौ वर्ष	= 36,000 उपवास
नेत्रों से बिम्बदर्शन	= हजार वर्ष	= 360,000 उपवास
स्तुति करने पर	= अनुपम उत्तम फल	

इसी भाव को विमलसूरि (चतुर्थ शती ईसवी) ने अपने पउमचरिय में भी व्यक्त किया था-

मणसा होइ चउत्थं, छट्ठफलं उट्ठियस्य संभवइ।
गमणस्स उ आरंभे, हवइ फलं अट्ठमोवासे॥
गमणे दसमं तु भवे, तह चेव दुवालसं गए किंचि।
मज्झे पक्खोवासं, मासोवासं तु दिट्ठेण॥
संपत्तो जिणभवणं, लहई छम्मासियं फलं पुरिसो।
संवच्छरियं तु फलं, अणंतपुण्णं जिणथुईए॥

(पउमचरिय, उद्देश 32, गाथा 89-91)

उक्त भाव को हिन्दी दोहा में इस प्रकार कहा गया है-

जब चिन्तो तब सहस फल, लक्खा गमन करेय।
कोड़ाकोड़ी अनन्तफल, जब जिनवर दरसेय॥

यह फल तभी प्राप्त होता है जब दर्शनार्थी मौनपूर्वक ईर्या समिति से जीवरक्षा करता हुआ देवदर्शन के लिए गमन करता है।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका में आचार्य पद्मनन्दी ने यद्यपि यशस्तिलक चम्पूकार श्रीसोमदेवसूरि द्वारा वर्णित षडावश्यकों को यथावत् स्वीकार किया है, तथापि उन्होंने देवपूजा के स्थान पर देवदर्शन एवं देवस्तवन को भी स्वीकार कर लिया है। वे लिखते हैं-

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये॥
ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥410-411

अर्थात् जो भव्य जिनेन्द्र भगवान् का भक्तिपूर्वक न तो दर्शन करते

हैं, न पूजा करते हैं, न स्तुति करते हैं; वे भव्य जीव तीनों लोकों में दर्शनीय, पूज्य एवं स्तुतियोग्य होते हैं अर्थात् सर्वलोक उनको भक्ति से देखता है तथा पूजा-स्तुति करता है। जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान् का दर्शन नहीं करते हैं, पूजा नहीं करते हैं और स्तुति नहीं करते हैं, उन मनुष्यों का जीवन संसार में निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रम के लिए भी धिक्कार है।

-पूर्व अध्यक्ष अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद्
429, पटेल नगर, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

******

मेवाड़ के जिनालयों में सामाजिक पक्ष

-डॉ. मीना बया, उदयपुर

जिनालयों में प्रारम्भ से ही देव रूपांकनों के साथ-साथ सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विषयांकन होता रहा है। किसी भी सम्प्रदाय के देव प्रासादों का निर्माण करवाने या करने वाला मानव ही है जोकि एक सामाजिक प्राणी है। मन्दिर के निर्माणोपरान्त मानव समाज ही वहाँ उपासना-अर्चना हेतु आता है। इस तरह मन्दिर प्रारम्भ से ही मानव समाज का केन्द्र बिन्दु रहा है। तो देव प्रासादों का सामाजिक जीवन से बचा रहना कैसे सम्भव हो सकता है? देवालयों में सामाजिक विषयांकनों के पीछे भी कुछ उद्देश्य रहे हैं- जैसे युग विशेष की सभ्यता, संस्कृति, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, वस्तुओं आदि की जानकारी आगामी युग को प्रदान करना। ये देवालय मात्र देवोपासना के केन्द्र ही नहीं, वरन् शिक्षा के केन्द्र भी रहे हैं।

मेवाड़ के आहड़, नागदा, देलवाड़ा (देवकुलपाटक) व श्री ऋषभदेव (केशरियाजी) के जिनालयों में हुए सामाजिक विषयांकन के निम्न रूपांकन प्रमुख हैं- धार्मिक पूजा, दीक्षा से सम्बन्धित दृश्य, राजकीय परिदृश्य, संगीत, आमोद-प्रमोद आदि के दृश्य और मिथुनाकृतियाँ।

धार्मिक पूजा, दीक्षा से सम्बन्धित दृश्य

धर्म-दर्शन का समाज में प्रमुख स्थान रहा है। धर्म समाज में ही फूलता-फलता है, क्योंकि उसका पोषण एवं संवर्धन समाज द्वारा ही होता है। स्वाभाविक है कि धर्म स्थल समाज से अलग नहीं हो सकते।

जैन धर्म की प्रमुख विशेषता है कि यह धर्म चतुर्विध संघ के अधीन अपने कार्य करता है। चतुर्विध संघ में साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका आदि सम्मिलित होते हैं। जिनालयों में चतुर्विध की गतिविधियाँ ही शिल्पांकन में विषय बनीं। जैसे- साधुओं के प्रवचन के दृश्य, पूजा महोत्सवों के दृश्य, गीत-संगीत, शोभायात्रा आदि के दृश्य यथास्थान अंकित किये गये हैं। कहीं-कहीं राजपरिवार की घटनाओं का अंकन है। ये सुन्दर उदाहरण आहड़, नागदा, देलवाड़ा व ऋषभदेव आदि जिनालयों में वितानों, अधिष्ठानों, मण्डोवरों आदि स्थानों पर देखे जा सकते हैं।

समाज में धर्मगुरु, आचार्यों आदि का पर्याप्त सम्मान एवं प्रतिष्ठित स्थान रहने से इनकी प्रतिमाएं एवं चरण चिह्न भी देवालयों में प्रतिष्ठित हुए हैं। इसके प्रत्यक्ष उदाहरण आहड़ शान्तिनाथ जिनालय परिसर में स्थापित श्री जगच्चन्द्रसूरि आचार्य की प्रतिमा है। आहड़ में ही जिनालय परिसर में स्थित एक अन्य आचार्य की प्रतिमा जिसकी पीठिका में संवत् 1234 का लेख उकेरित है। इसमें आसन पर स्थापनाचार्य व पास ही अंजलिबद्ध मुद्रा में श्रावक बैठा है। देलवाड़ा, आदिनाथ एवं पार्श्वनाथ जिनालयों में आठ प्रतिमाएं स्थित हैं। इन्हीं जिनालयों में कई अन्य आचार्यों की श्रावक-श्राविकाओं सहित लेखयुक्त प्रतिमाएं विद्यमान हैं, जिनमें श्री पार्श्वनाथ मन्दिर में दो प्रतिमाएं, जिनकी पीठिका पर 1476 एवं 1486 के लेख उत्कीर्ण होने से ये ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। लेखों के साथ ही आचार्यों के नाम अंकित होने से आचार्य परम्परा व समाज में उनकी प्रतिष्ठा का ज्ञान होता है।

आहड़ के आदिनाथ जिनालय के मण्डोवर के नरथर में धार्मिक क्रिया-कलाप जैसे- कायोत्सर्ग में खड़ी व पद्मासन में विराजमान जिन प्रतिमाओं के चारों ओर उपासना-आराधना करते श्रावक-श्राविका, स्थापनाजी के साथ आचार्यों व शिष्यों को धार्मिक क्रिया करते अंकित किया गया है। इसी प्रकार के उदाहरण नागदा मन्दिर के जगती भाग के नरथर में साधु महाराज को वन्दन करते श्रावक, राजपुरुष आदि के अंकन देखे जा सकते हैं। 'नेमजी की बारात' शिल्पकारों के लिए अंकन हेतु बहुत रोचक, सुन्दर एवं महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। इसका बहुत ही सुन्दर उदाहरण श्री ऋषभदेव मन्दिर प्रवेश श्रृंगार चंवरी के ललाट बिम्ब पर स्थित देखा जा सकता है। इस पेनल में जैन धर्म के 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ के विवाह हेतु वर निकासी से लेकर उनके वैराग्य उत्पन्न होने व दीक्षा लेने तक का सुन्दर अंकन हुआ है।

राजकीय परिदृश्य- जैनधर्म प्रारम्भ से ही अन्य धर्मों के समान राजकीय संरक्षण प्राप्त करता रहा है। यह धर्म सभी राजाओं के काल में संरक्षण प्राप्त कर समाज में फलता-फूलता रहा। अनेक जैन श्रेष्ठी राजदरबार में ऊँचे ओहदे पर प्रतिष्ठित रहे। समाज की धर्म में आस्था, विश्वास, श्रद्धा बढ़ी और अनेक श्रेष्ठियों ने कई सुन्दर कलात्मक जैन प्रासादों का निर्माण

करवाया। तत्कालीन धनाढ्य वर्ग के दरबार से जुड़े रहने के कारण राजदरबार व वहाँ की मुख्य गतिविधियां महत्त्वपूर्ण विषय के रूप में अंकित हुए, जैसे राजा-रानी मंत्रणा करते हुए, युद्ध के दृश्य इत्यादि। राजा व राजदरबारों से सम्बन्धित विषयांकन होने का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण अधिकांश तीर्थंकरों का राजपरिवारों से जैविक सम्बन्ध होना रहा है।

नागदा जैन मन्दिर संख्या-1 के नरथर में अनेक स्थानों पर युद्ध के सुन्दर दृश्यों का अंकन हुआ है। इनमें कतारबद्ध सैनिक, तो कहीं ढ़ाल व तलवार लेकर पंक्तिबद्ध तेजी से चलते हुए सैनिकों का उत्कीर्णन हुआ है। यहीं आगे हाथी को ले जाते हुए, दंड लेकर पीछे चलते अंगरक्षक, लगाम पकड़े घुड़सवार, घुड़सवारों की लड़ाई व आयुधों से सुसज्जित होकर युद्ध करते हुए सैनिकों का मनमोहक अंकन देखा जा सकता है। श्री ऋषभदेव में भी गर्भगृह के ठीक पीछे भद्रदेवकूलिका के दायें वितान में शस्त्रयुक्त घुड़सवार देखे जा सकते हैं। यहीं एक अन्य दृश्य में ऊँट व घुड़सवार आमने-सामने खड़े हैं। ऊँट पर युगल बैठा है, जिसमें पुरुष के हाथ में धनुष तथा बाण हैं। सभी अंकित विषय तत्कालीन समाज की व्यवस्थाओं, रीति-रीवाजों, युद्धशैली और आयुधों आदि का ज्ञान कराते हैं।

संगीत, आमोद-प्रमोद आदि के दृश्य

गायन-वादन एवं नृत्य तीनों ही जीवन में आनन्दानुभूति प्रदान करते हैं। ये ईश्वरोपासना, भक्ति के सर्वोच्च माध्यम हैं। भौतिकवाद से लेकर आध्यात्मिक संसार तक संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिनालयों में संगीत आमोद-प्रमोद से सम्बन्धित अनेकों विषयों को उत्कीर्णन में आरम्भ से ही स्थान मिला है।

मेवाड़ के आहड़ आदिनाथ जिनालय के मण्डोवर के नरथर में इसका अंकन हुआ है। इनमें स्त्री-पुरुषों को बांसुरी, ढोलक, तुरही आदि वाद्यों को बजाते हुए नृत्य में रत, जिनभक्ति करते हुए उत्कीर्ण किया है। नागदा में इस तरह के अनेकानेक सुन्दर उदाहरण मन्दिर संख्या एक के जगती-नरथर पर देखे जा सकते हैं। इसमें नृतक, बांसुरीवादक, मृदंगवादक, नृत्य करती हुई त्रिभंग मुद्रा में नृत्यांगना, ढपली, तुरही बजाते वादक, गायक आदि प्रमुख हैं। राजदरबार में नृत्य मण्डली, राजा-रानी नृत्य का आनन्द लेते

यहीं पास में पद्मासन में विराजित जिनबिम्ब को दो मुकुटधारी परिचारिकाएं कलश लिए हुए अभिषेक करने हेतु तैयार हैं। सम्भवतः यह जन्म कल्याणक महोत्सव का दृश्य है।

संगीत व आमोद-प्रमोद के विषयों में यहीं आगे शेर की लड़ाई, सिंह के मुख में हाथ डालकर कटार से प्रहार करती मानव आकृति, हाथ में कटार लेकर मल्लयुद्ध करते दो पहलवान आदि विशेष कौतूक पैदा करते है। यहीं आगे दो स्त्रियाँ ऊँचा जूड़ा बनाये आसन पर बैठी हैं। नृत्यशाला के अन्य दृश्य में वादकों एवं गायकों से घिरी अतिभंग मुद्रा में नृत्यांगना उत्कीर्ण है। इसी दृश्य में किनारे पर दाढ़ी वाली पुरुष आकृति एक हाथ ऊपर उठाये गाते हुए अंकित है। सम्भवतः यह संगीताचार्य है। इसी प्रकार के अनेक आकर्षक दृश्य मन्दिर परिसर में स्थित भद्रदेवकूलिका में अंकित हैं। श्री ऋषभदेव में आमोद-प्रमोद के कुछ अन्य विषयों का अंकन देखने में आता है तथा दैनिक क्रिया-कलापों से सम्बन्धित प्रसाधन, 'पोलो खिलाड़ी' भी विषय के रूप में उत्कीर्ण हुए हैं। यह विषय रुचिकर बन पड़े हैं।

इस प्रकार जिनालयों में शिल्पकार ने संगीत, आमोद-प्रमोद, दैनिक क्रिया-कलापों आदि विषयों को उत्कीर्ण कर तत्कालीन समाज के पक्ष को भी उजागर किया।

मिथुनाकृतियाँ

देवालयों में मिथुनाकृतियों के अंकन का प्रचलन अत्यंत प्राचीनकाल से ही रहा है। प्रणयरत युग्मों के अंकन में शिल्पियों की कुत्सित भावनाएं नहीं रहीं, वरन् यह तो 'मानव का प्रकृति से प्रेम' की भावना का परिणाम है। कोमल व सुन्दर वस्तुओं के प्रति उसका सहज ही आकर्षित होना स्वाभाविक है। पुरुष और प्रकृति का संयोग, भोग एवं अपवर्ग, दोनों ही बातों का मार्ग प्रदर्शन करता है।[1] शिल्पकार अपनी कला में रचनाधर्मिता को तो प्रदर्शित करता ही है, किन्तु समाज के महत्त्वपूर्ण पक्षों को अनदेखा भी नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समकालीन अन्य कलाओं, साहित्य आदि का प्रभाव शिल्पियों पर पड़ना भी स्वाभाविक था।

कामशास्त्र के संस्कृत ग्रन्थों में जो उल्लेख है, उसी का अनुसरण देवालयों में मिलता है,[2] सभी में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का निरूपण मिलता है।[3] कालिदास ने अपने श्रेष्ठ काव्यों में जो शिष्ट प्रणय का वर्णन किया है, उसका शिल्प में भी यथायोग्य समादर हुआ। कवियों की स्त्री सौन्दर्य की मधुर कल्पनाओं को शिल्पी ने मातृत्व भाव के साथ शिल्प में उतारा व स्वीकारा।

'प्रकृति के क्रमिक विकास' को कायम रखने हेतु मानव जीवन में मैथुन का महत्त्वपूर्ण स्थान है, अर्थात इसे सृजनात्मकता से जोड़ा गया है। श्री गोन्डा ने उत्पादकता के तथ्य को समझाने का प्रयास किया है। इस बात को आनन्द कुमार स्वामी, डी.डी. कोशाम्बी, डी. वी. चट्टोपाध्याय और मोतीचन्द्र आदि विद्वान भी सर्वसम्मति से स्वीकारते हैं।[4] अग्निपुराण, बृहद्संहिता, दीपार्णव आदि शिल्पशास्त्रों में तो देवालयों की बाह्य मण्डोवर में स्त्री-पुरुष के युग्म रूप बनाने के निर्देश हैं और जिनालय भी वास्तु शास्त्रानुसार ही निर्मित हुए हैं।

जिनालयों में जहाँ धर्म में विश्वास प्रदर्शित किया गया है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों को भी स्वीकारा है। इसी सहज स्वीकार्य भाव से यहाँ मिथुन युग्म उत्कीर्ण हुए हैं। इनके उदाहरण आहड़ आदिनाथ मन्दिर परिसर में एक प्रस्तर खण्ड, जिस पर मिथुन युग्म के कुल चार दृश्य अंकित हैं। बीच में तीन अप्सरास्वरूपों का अंकन कर प्रत्येक दृश्य को पृथक् किया गया है। प्रथम दृश्य में स्त्री-पुरुष हाथ पकड़े गले में बाहें डाले प्रेमालाप करते हुए, दूसरे दृश्य में जाते हुए पुरुष को बांह पकड़कर स्त्री आग्रह पूर्वक रोक रही है, तीसरे दृश्य में प्रेमी युगल एक-दूसरे में मग्न हैं। चौथे व अन्तिम दृश्य में युगल गले में बांहें डाल आलिंगन मुद्रा में उत्कीर्ण है। श्री ऋषभदेव बावन जिनालय में भी मिथुन युग्म परम्परा के कई दृश्य उकेरित हैं। यह दृश्य देवकूलिकाओं के बाह्य मण्डोवर में वितान, पाट बिम्बों आदि अनेक स्थानों पर, विशेषकर परिक्रमा से प्रथम, द्वितीय व मूल प्रासाद के ठीक पीछे वाली भद्रदेवकूलिका वितान में देखे जा सकते हैं।

यहाँ एक बात विदित है कि मिथुन युग्म शिल्पकला में उतारने की परम्परा सभी स्थानों पर (जैन, बौद्ध एवं हिन्दू) समान रूप से मान्य रही है, किन्तु इनका स्थान देवालयों के बाह्य मण्डोवरों, वितानों आदि स्थानों पर ही स्वीकार्य हुआ।

जिनालयों में कहीं भी गर्भगृह में इस तरह के अंकन नहीं मिलते। वहाँ मात्र आराध्य **'जिन'** की प्रतिमा को ही प्रतिष्ठित किया जाता है। अर्थात् विकेन्द्रित मन:स्थिति उत्पन्न करने वाले दृश्यों को देखने के पश्चात् अपने मन को केवल आराध्य में ही केन्द्रीभूत रखकर, गर्भगृह में पहुँचने वाला दर्शक अपने आराध्य की सफल आराधना कर सकता है।

इस प्रकार जैन देवालयों में मात्र धार्मिक विषयों को ही महत्त्व नहीं दिया गया वरन् समाज के अन्य पक्षों को भी अंकित किया गया है। इसमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष चारों ही पुरुषार्थों का समाज में स्थान देते हुए भी सभी का धर्म को ध्यान में रखकर पालन श्रेष्ठ माना है। जिनालयों में अंकित विषय मात्र मनोरंजन नहीं करते, वरन् तत्कालीन धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं सामाजिक व्यवस्था का गूढ़ ज्ञान कराते हैं।

संदर्भ :

1. 'त्रिपथगा' वर्ष 5, अंक 3, पृष्ठ-55
2. सोमपुरा, प्रभाशंकर भारतीय शिल्प संहिता, सोमैया पब्लिकेशन प्रा. लि., मुम्बई, 1975, प्रस्तावना
3. वही
4. देसाई, देवांगना, एरोटिक स्कल्पचर ऑफ इण्डिया, टाटा मेकग्रॉ-हिल पब्लिशिंग कं. लि. नई दिल्ली, 1975, पृ. 4, 5

-एसोसियट प्रोफेसर, ड्राइंग एण्ड पेंटिंग,

448, शास्त्री सर्कल उदयपुर-313001 (राज.)

******

जैनधर्म में वर्णित कल्की एवं उपकल्की की अवधारणा : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

-डॉ. अनिल कुमार जैन

अनेक जैन शास्त्रों में कल्की तथा उपकल्कियों का वर्णन मिलता है। भगवान् महावीर के 1000 वर्ष बाद पहला कल्की राजा होता है। इसके पश्चात् प्रत्येक एक हजार वर्ष के बाद एक-एक कल्की होता है। इनके मध्य में प्रत्येक पांच सौ वर्ष बाद एक-एक उपकल्की होता है। इस प्रकार इक्कीस हजार वर्ष के दु:षमा नामक (पंचमकाल) में कुल 21 कल्की एवं 21 उपकल्की होते हैं, जो जैन धर्म को हानि पहुंचाते हैं। तिलोयपण्णत्ती के दूसरे भाग में गाथा सं. 1521 से 1529 तक इसकी विस्तृत चर्चा की है। इसके अनुसार पहला कल्की भगवान् महावीर के निर्वाण के 958 वर्ष बाद हुआ, जिसका नाम चतुर्मुख था। इसका शासन 42 वर्ष तक था। कुछ अन्य शास्त्रों में इस पहले कल्की का नाम मिहिरकुल भी मिलता है। कषायपाहुड के अनुसार मिहिरकुल ने गुप्त वंश का साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और प्रजा पर बड़े अत्याचार किये। इससे तंग आकर एक हिन्दू सरदार विष्णु यशोधर्म ने बिखरी हुई हिन्दू शक्ति को संगठित करके ई. 528 में मिहिरकुल को परास्त करके भगा दिया; उसने काश्मीर में जाकर शरण ली और वहाँ ई. 540 में उसकी मृत्यु हो गयी।

न्यायावतार के अनुसार विष्णु यशोधर्म कट्टर वैष्णव था। इसने हिन्दू धर्म का तो बड़ा उपकार किया, किन्तु जैन साधुओं और मंदिरों पर बड़ा अत्याचार किया। इसलिए जैनियों में वह कल्की नाम से प्रसिद्ध हुआ और हिन्दू धर्म में उसे अन्तिम अवतार माना गया। (जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग-2)

श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने अपनी खोज के आधार पर एक बहुत ही रोचक बात कही। इनके अनुसार ई. 431-546 के 115 वर्ष के राज्य में

एक के पीछे एक ऐसे चार राजा हुए। सभी अत्यन्त अत्याचारी थे। कल्की नाम का कोई एक राजा न था; बल्कि उपर्युक्त चारों राजा ही अपने अत्याचार के कारण कल्की नाम से प्रसिद्ध हुए। श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के इस कथन से निष्कर्ष निकलता है कि यह कोई आवश्यक नहीं कि कल्की एक राजा ही हो, वह कई राजाओं का समूह भी हो सकता है। इसी प्रकार वह एक व्यक्ति या फिर कई व्यक्तियों का समूह भी हो सकता है, जो जैन धर्म को हानि पहुंचाये।

भगवान् महावीर को निर्वाण प्राप्त हुये 2543 वर्ष हो चुके हैं। इस प्रकार अब तक दो कल्की और दो उपकल्की तो हो चुके हैं तथा तीसरा उपकल्की वर्तमान युग में होना चाहिए। पहले कल्की के पश्चात् एक और कल्की तथा दो उपकल्की कौन थे, यह कहना तो मुश्किल है; लेकिन समय-समय पर उत्तर तथा दक्षिण भारत में अनेक जैन मंदिर तोड़े गये, कई को हिन्दू मंदिरों में परिवर्तित कर दिया गया, अनेक जैनों को अजैन बना दिया; यह सब इस बात की ओर इशारा तो करते हैं कि जिन्होंने भी ऐसा किया वे निश्चित रूप से कल्की या उपकल्की थे।

काल गणना के आधार से वर्तमान युग में भी उपकल्की होना चाहिए। यह कोई आवश्यक नहीं कि वह कोई व्यक्ति विशेष ही हो, कोई विचारधारा भी हो सकती है, किसी एक विचारधारा से जुड़े व्यक्तियों का समूह भी हो सकता है, या फिर कुछ अन्य; लेकिन एक बात तय है कि जब भी कल्की या उपकल्की युग आता है तब जैनधर्म का ह्रास होता है। कुछ विशेष बातें दृष्टिगोचर होती हैं, जैसे- जैन तीर्थों तथा मंदिरों को या तो नष्ट कर देना, या फिर अन्य मती द्वारा उनका अधिग्रहण कर लेना; जैनों का अन्य मत को मानने के लिए विवश होना; जैन साधुओं पर अत्याचार होना, इनका भ्रष्ट हो जाना तथा सच्चे साधुओं की संख्या में कमी आ जाना। आजकल देश में लोकतंत्र है। अतः किसी राजा विशेष या सरकार विशेष का उपकल्की होना संभव प्रतीत नहीं होता है; लेकिन यह भी स्पष्ट नजर आ रहा है कि वर्तमान युग में जैन तीर्थों पर अन्य मती द्वारा योजनाबद्ध कब्जा किया जा रहा है, बहुत से जैन जाने-अनजाने में अन्यमती होते जा रहे हैं, साधुओं में शिथिलाचार निरन्तर बढ़ता जा रहा

है। यह सब जैनधर्म के ह्रास होने के ही लक्षण हैं। अतः ऐसा लगता है कि वर्तमान युग उपकल्की-युग ही है।

अब प्रश्न यह है कि उपकल्की है कौन? मेरा मानना है कि वर्तमान युग में जैनधर्म के ह्रास होने के जो लक्षण दिखाई दे रहे हैं इसके लिए किसी उपकल्की की आवश्यकता नहीं, इस सबके लिए तो हम स्वयं ही जिम्मेदार हैं। कुछ लोग कह सकते हैं कि वर्तमान में तो धर्म की बहुत प्रभावना हो रही है, आज अनेकों संत उपलब्ध हैं, आये दिन पंचकल्याणक, विधान, नये मंदिरों व तीर्थों के निर्माण कार्य हो रहे हैं। अतः यह जैनधर्म का ह्रास नहीं बल्कि पंचमकाल का उत्कर्ष काल है। यदि हम गंभीरता से विचारें तो ऐसा मात्र लगता है; लेकिन वास्तविकता कुछ और ही है। यदि धर्म की बहुत प्रभावना हो रही है तो जैनों की संख्या में वृद्धि होना चाहिए, कुछ अजैनों को जैन बनना चाहिए, कम से कम जो जैन थे या हैं उन्हें अन्य मत मानने के बजाय जैनधर्म में और अधिक दृढ़ होना चाहिए, लेकिन ऐसा कुछ नजर नहीं आता है। वास्तविकता यह है कि सन् 1947 में जितने प्रतिशत जैन थे, आज उतने भी नहीं हैं। मैंने दो जिलों के सरकारी गजट देखे- एक अलवर और दूसरा भरतपुर का। इनका प्रकाशन सन् 1968 में हुआ है। भरतपुर के गजट से जानकारी प्राप्त हुई कि भरतपुर की कामां तहसील में विजयवर्गीय जाति के वणिक् रहा करते थे जो जैन मत मानते थे। आज प्रायः सभी विजयवर्गीय लोग वैष्णव/हिन्दू धर्म को मानते हैं। अलवर जिले के गजट से पता चला कि सन् 1951 में अलवर जिले में जैनों की जनसंख्या वहाँ की कुल जनसंख्या का 1.1 प्रतिशत थी, जो सन् 1961 में घटकर मात्र 0.5 प्रतिशत रह गई।

महाराष्ट्र की कसार जाति के बारे में हम सभी जानते हैं कि कुछ दशकों पूर्व उनकी जनसंख्या 80 हजार रह गई है। लगभग 60 हजार जैन कसार हिन्दू हो गये। इस प्रकार जैनों की जनसंख्या कम होने के दो कारण रहे, एक तो नये जैन बने नहीं तथा दूसरे जो जैन थे वे भी अजैन होते चले गये। आज भी अजैन होने की प्रक्रिया जारी है। जो अपने नाम के आगे जैन लिखते भी हैं, उनमें से बहुत से नाममात्र के ही जैन हैं तथा अन्य मत के देवी-देवताओं के प्रति समर्पित हैं। आगे हम इनके कारणों को

समझने का प्रयत्न करेंगे।

भारत के संविधान निर्माता डॉ. बी.आर. अम्बेडकर हिन्दू धर्म के कट्टर विरोधी थे, क्योंकि हिन्दू धर्म में वर्णवाद और छुआछूत बहुत अधिक था। अत: उन्होंने निश्चय किया कि वे हिन्दू धर्म का त्याग करके किसी ऐसे धर्म को अपनायेंगे जो मानव मात्र के कल्याण की बात करता हो। उनके पास दो विकल्प थे, या तो जैन बन जायें या फिर बौद्ध; लेकिन जैन समाज को शूद्र वर्ण के लोगों को जैन बन जाना नहीं सुहा रहा था। जैनों के विरोध को डॉ. अम्बेडकर ने भाँप लिया था। हमारे संतों ने भी इस बात का विरोध किया। इस विरोध के कारण सन् 1956 में डॉ. अम्बेडकर ने अपने पांच हजार समर्थकों के साथ बौद्ध धर्म अपना लिया। बाद में और भी अन्य लोगों ने बौद्ध धर्म अपना लिया। इससे पूर्व हमारे आचार्य तो हरिजन मंदिर प्रवेश को लेकर आमरण अनशन पर बैठ गये थे। मेरी दृष्टि में यह हमारी बहुत बड़ी भूल थी। यदि हमने अम्बेडकर जैसे लोगों को अपने में मिला लिया होता तो आज हमारी स्थिति और भी अच्छी होती। स्मरण रहे प्राचीन काल में भी चारों वर्णों के लोग जैन धर्म मानते थे।

जरा विचार करिये, आज यदि उच्च पद पर आसीन राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राज्यपाल, मुख्यमंत्री या फिर कोई मंत्री या उच्च अधिकारी हमारे संतों के पास आये या फिर हमारे तीर्थों के दर्शनार्थ आये तो क्या पहले हम उससे उसकी जाति या वर्ण पूछते हैं। हम ऐसा कभी नहीं करते, बल्कि हम हमेशा चाहते हैं कि वे हमारे धार्मिक आयोजनों में सम्मिलित हों। हम उनसे आने के लिए निवेदन करते रहते हैं। आज छुआछूत का विचार भी पहले जैसा नहीं है। अत: हमें मानना होगा कि हरिजनों को जैन धर्म में सम्मिलित न कराना तत्कालीन संतों व समाज के नेतृत्व की अदूरदर्शिता रही। यदि हमने हरिजनों को जैन बना लिया होता तो हमारी संख्या बहुत अधिक होती। आज भी यदि हमारे संत चाहें तो इस दिशा में प्रयास कर सकते हैं; लेकिन हमें अपने विचारों को उदार बनाना होगा।

अनेक जैन शास्त्रों में सम्यक्दर्शन के प्रभावना अंग का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसमें बताया गया है कि दान देने से भी प्रभावना होती

है; लेकिन हमारे विद्वानों ने दान की परिभाषा बहुत ही तंग कर रखी है। दान मात्र जैन संतों या जैन अनुयायियों को ही दिया जा सकता है, यदि हमें जैनधर्म की सच्ची प्रभावना करनी है तो दान के अर्थ को व्यापक बनाना होगा। साधर्मी को सहायता तो की ही जानी चाहिए, लेकिन जो अजैन हैं, उन्हें भी आवश्यकतानुसार भोजन, औषधि, शिक्षा और मकान उपलब्ध कराकर उन्हें जैनधर्म में सम्मिलित किया जाना चाहिए। आज भी देश के करोड़ों लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं। क्या उन्हें भोजन, औषधि, शिक्षा आदि प्रदानकर धर्मलाभ नहीं दिया जा सकता? जब कभी बड़े-बड़े खर्चीले आयोजनों व निर्माण कार्यों से फुरसत मिल जाये तो उस पर विचार अवश्य करना चाहिए।

एक बार तेरापंथ के आचार्य श्री महाप्रज्ञ जी दक्षिण भारत की यात्रा पर गये थे। उन्होंने केरल में टूटे हुये अनेक प्राचीन मंदिरों को देखा। उन्होंने लिखा कि प्राचीन समय में केरल सहित दक्षिण भारत में जैनधर्म का बहुत प्रचार था। जैनों की जनसंख्या भी बहुत थी, लेकिन आज नहीं है। इसका एक प्रमुख कारण है कि जैन लोग अपने कर्तव्यों से विमुख हो गये। जैनधर्मानुसार जो भूखा है उसे भोजन दो, जो बीमार है उसे औषधि दो, जो अशिक्षित है उसे शिक्षा उपलब्ध कराओ; यही सही रूप में दान है; लेकिन जैनों ने इस विचार को सीमित कर लिया तथा ईसाईयों ने अपना लिया। इस कारण केरल के गरीब जैनों ने ईसाई धर्म अपना लिया। आचार्य महाप्रज्ञ जी ने एक बात और कही कि कोरे अध्यात्म की बातों से कोई जैन नहीं बनता। पहले भोजन आदि की व्यवस्था करो, बाद में अध्यात्म या जैन बनाने की बात करो।

आज जितने भी जैन बचे हैं वे भी जैनधर्म से अपना मोह और ममत्व कम करते जा रहे हैं। उसका मुख्य कारण है कि हमारे संतों व विद्वानों की आम जैन लोगों में पकड़ कम होती जा रही है। बड़े-बड़े आयोजन देखकर यह भ्रम तो होता है कि बहुत भीड़ इकट्ठी हो रही है। अतः बहुत प्रभावना हो रही है; लेकिन जरा गौर से देखिएगा कि उस भीड़ में नहीं होते हैं। धनवानों का बोलबाला रहता है, क्योंकि बड़ी-बड़ी बोलियां वे लोग ही लेते हैं। संतों द्वारा धनवानों की प्रशंसा होती रहती है।

जब पूजा, प्रक्षाल, आरती सब कुछ धनवानों को ही करना है तो वहां गरीब जैन आकर क्या करेगा? गरीब जैन तो घर के नजदीक के किसी भी मत के मंदिर में जाकर बैठ जायेगा जहां उसे अपने जैसे लोग दिखें। युवा वर्ग संतों से इसलिए दूर होता जा रहा है कि वह विभिन्न आयोजनों में बढ़ते क्रियाकाण्ड को स्वीकार नहीं कर पा रहा है। जब उससे धर्म की बात की जाती है तो उसके मस्तिष्क में सादगी का चित्र बनता है, न कि आडंबर का। गरीब और युवा ही समारोहों से दूर नहीं रहते, मध्यमवर्ग तथा निम्न मध्यमवर्ग के लोग भी कम ही रहते हैं। जब वे देखते हैं कि धनवानों को मंच पर सम्मानित किया जाता है तो वे भी शीघ्र ही अधिक धनवान होना चाहते हैं तथा उसके लिए वे अन्य मत के देवी-देवताओं की ओर आकर्षित हो जाते हैं।

धर्म का सही स्वरूप समझाने में हमारे संत व विद्वान् सफल नहीं हो पा रहे हैं। वे बड़े-बड़े आयोजनों-पंचकल्याणकों, प्रतिष्ठाओं व विधानों में ही धर्म को समेट देना चाहते हैं। टेलीविजन पर भी अधिकतर ऐसे कार्यक्रमों का ही बोलबाला रहता है। यदि कोई संत या विद्वान् धर्मोपदेश देते भी हैं तो प्रायः उनका एक प्रिय विषय रहता है कि विज्ञान को भ्रामक/गलत बताना/ विज्ञान की आलोचना करने में ऐसी-ऐसी बातें कही जाती हैं, जिन्हें बच्चे भी सिरे से खारिज कर दें।

जैन संतों व विद्वानों द्वारा जैनधर्म की जो व्याख्या की जा रही है वह भ्रम उत्पन्न करने वाली है। हर कोई अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग अलाप रहा है, कहीं भी एकरूपता नजर नहीं आती है। हर कोई अपने को सही और दूसरे को गलत सिद्ध करने में लगा हुआ है। ऐसी स्थिति में आमजन का भ्रमित होना स्वाभाविक ही है। जबसे जैन संतों ने हिन्दू देवी देवताओं, त्योहारों तथा उनकी मान्यताओं का जैनीकरण करना प्रारंभ कर दिया है, तब से यह भ्रम और भी अधिक हो गया है। नवरात्रि, काली अमावस्या, लक्ष्मीपूजन, गणेशपूजन, कृष्ण जयंती, ग्रहदोष निवारण आदि अनेक बातों को येन-केन-प्रकारेण उचित बताना प्रारंभ कर दिया है। यह भी विचार करना चाहिए कि क्या ऐसा करने से हम जैनधर्म का प्रचार कर रहे हैं या ह्रास। जैनधर्म को इतने नीचे स्तर पर लाकर खड़ा

कर दिया है कि अब वह जैनधर्म जैसा दिखता ही नहीं है।

कुछ जैन संत अपने हीन आचरण के कारण जैनधर्म को नष्ट करने में अपना भरपूर योगदान दे रहे हैं। जैन विद्वान् व समाज इस पर मौन है। जैन समाज तो नादान है, लेकिन जैन विद्वानों का इन विषयों पर चुप्पी साधना खलता है। कुछ विद्वान् धन के लोभ के कारण अपना मुँह बन्द रखते हैं। कुछ विद्वान् जो धन के लोभी नहीं भी हैं वे अपनी जाति के मतों की जैनधर्म के विपरीत क्रियाओं को भी जाति व्यामोह के कारण उचित ठहराने लगते हैं। महंगे धार्मिक आयोजनों को तो सभी विद्वानों ने उचित मानना शुरु कर दिया है, जितना अधिक मंहगा आयोजन, उतनी अधिक प्रभावना और इतनी ही अधिक दक्षिणा, यह एक सूत्र-मंत्र बनता जा रहा है। ऐसे आयोजनों में कितना आरंभ हो रहा है, इस पर कोई विचार नहीं करता। जब ऐसे मामलों में विद्वान् लोग ही चुप रहेंगे तो आमजन जैनधर्म से विमुख होगा ही।

कुछ संत अपने उच्च आचरण द्वारा जैनधर्म की प्रभावना कर रहे हैं। जैन व जैनेतर सभी को अहिंसा का मार्ग प्रदर्शित भी कर रहे हैं, लेकिन वे भी जैनधर्म की उन्नति में अधिक कार्यकारी सिद्ध नहीं हो पा रहे हैं। इसका एक कारण यह भी है कि ऐसे संत बहुत कम हैं और उनके प्रयास बड़े-बड़े आयोजनों रूपी नक्कारखाने में तूती की आवाज बनकर रह गये हैं। एक दूसरी बात यह भी है कि इससे नये जैन बन नहीं पा रहे हैं और यदि कोई बनना भी चाहे तो जैन समाज उन्हें अपने में सम्मिलित करने में कोई उत्साह नहीं दिखाता है।

अब कुछ अपने तीर्थों की स्थिति के बारे में भी चर्चा कर लेना उचित होगा। हम सभी जानते हैं कि हमारे प्राचीन तीर्थों पर जैनेतर लोगों की कुदृष्टि हमेशा से ही रही है। वर्तमान में ऐसा लगता है कि भारत की बहुसंख्यक समाज योजनाबद्ध तरीके से हमारे तीर्थों को हड़पने में लगी हुई है। हमारे देखते-देखते गिरनार तीर्थ जैनों के हाथों से निकल सा गया है। अब शिखरजी तथा पालीताना जैसे तीर्थों पर भी उनकी कुदृष्टि है। सरकारों से कोई भी मदद नहीं मिलती है। सरकारें प्रायः अपने वोट पाने के कारण हमेशा बहुसंख्यक वर्ग का ही साथ देती हैं। इसी कारण

प्रशासन भी मूकदर्शक बना रहता है। हमारे तीर्थ हमारे हाथों से निकल रहे हैं, इसका एक और बहुत बड़ा कारण है और वह है- हमारे प्राचीन तीर्थों से हमारे संतों का मोह भंग होना। यदि कोई थोड़ा सा नाम वाला संत है वह तुरन्त अपना एक नया तीर्थ बना लेता है। इसका सर्वाधिक नुकसान यह हुआ कि संत अपने द्वारा निर्मित तीर्थ के लिए ही समर्पित नजर आते हैं। वे इस बात से ही संतुष्ट नजर आते हैं कि उनकी प्रेरणा द्वारा निर्माण कराये तीर्थ प्रगति करते रहें और इनका नाम भी होता रहे। इस प्रकार के रवैये के कारण प्राचीन तीर्थों पर संतों का आना-जाना भी कम होता जा रहा है। ऐसे नामी संत प्रायः देखने में कम आते हैं, जो अपना नया तीर्थ न बनाये हों तथा हमारे आस्था और श्रद्धा के प्रतीक प्राचीन तीर्थों पर उद्धार के लिए लोगों को प्रेरित करते हों। ऐसी स्थिति में हमारे प्राचीन तीर्थ उपेक्षित होने लगते हैं और बहुसंख्यक जैनेतरों को उन पर कब्जा करने का अच्छा मौका मिल जाता है। इस प्रकार जैन तीर्थों का अन्य मत के तीर्थों में परिवर्तित हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है। दक्षिण भारत में अनेक प्राचीन जैन मंदिर उपेक्षित पड़े हुये हैं। यदि हमारे संतों व समाज का यही रवैया रहा तो उनका भी अन्य मत के मन्दिरों में परिवर्तित होने में अधिक समय नहीं लगेगा।

कई साधुओं में बढ़ते भ्रष्ट आचरण के बारे में लिखने की आवश्यकता नहीं है, इनके बारे में तो समाचार प्रायः आते ही रहते हैं। आज अनेक संत मात्र शिथिलाचारी ही नहीं हैं, वे सभी प्रकार के अनाचार, दुराचार, व्यभिचार में लिप्त हैं और दुःख की बात यह है कि इनके विरुद्ध विद्वानों द्वारा कोई भी कारगर कदम नहीं उठाया गया है। इस प्रकार सच्चे सन्तों की संख्या में बहुत कमी आई है।

वर्तमान में हिन्दुत्व की हवा कुछ ऐसी बह रही है जिसने जैनों को भी बहुत प्रभावित किया है। इससे हिन्दुत्व तो मजबूत हो रहा है, लेकिन जैनत्व और जैनधर्म कमजोर होता जा रहा है। यह स्थिति कुछ-कुछ वैसी ही है जैसी पहले कल्की राजा विष्णु यशोधर्म के समय थी। उस समय उसने भी हिन्दू शक्ति संगठित करके हिन्दू धर्म का तो बड़ा उपकार किया, लेकिन जैनधर्म का बहुत नुकसान किया।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान युग उपकल्की युग है, क्योंकि इस युग में भी वे सभी लक्षण परिलक्षित हो रहे हैं जो एक उपकल्की या कल्की युग में होते हैं। जैसे- जैनों की संख्या में कमी आना, जैन मंदिरों व तीर्थों का असुरक्षित होना, सच्चे संतों की संख्या में कमी आना आदि; लेकिन इस सब का जिम्मेदार कोई जैनेतर नहीं बल्कि जैन स्वयं हैं, जिसमें संत, विद्वान् व समाज बराबर के हिस्सेदार हैं।

-डी-197, मोती पार्क के सामने,
मोती मार्ग, बापूनगर,
जयपुर-302015 (राजस्थान)

******

आचार्य श्री विद्यासागर विरचित 'चैतन्य चन्द्रोदय' में सर्वज्ञ विचार

-डॉ. बाहुबलि कुमार जैन

दार्शनिक चिन्तन करना मानव प्रकृति है। अनादिकाल से संसार में संत्रस्त जीव को दु:खों से छुड़ाकर परमसुख की प्राप्ति कराना ही दर्शन का चरम लक्ष्य है। दु:खों से छूटने के लिए विभिन्न दर्शनों में विविध मार्ग कहे गए हैं, किन्तु सबका उद्देश्य पारमार्थिक सुख की प्राप्ति ही है। अज्ञान की निवृत्ति एवं ज्ञान की प्राप्ति सद्गुरु द्वारा प्रदत्त उपदेश द्वारा सम्भव है; किन्तु उपदेशक अथवा मार्गदर्शक की निर्दोषता एवं आप्तता से ही उसके वचनों में प्रामाणिकता का समावेश होता है। जैसे कोई पापकार्य में मग्न व्यक्ति पुण्यमार्ग के प्रतिपादन करने में अयोग्य होता है उसी प्रकार तत्त्वोपदेश हेतु सर्वदर्शी एवं निर्दोष पुरुष ही समर्थवान हो सकता है। आगम में सम्पूर्ण तत्त्वों के ज्ञाता, अशेष द्रव्यों की समस्त पर्यायों के प्रत्यक्ष द्रष्टा उस पुरुष को 'सर्वज्ञ' संज्ञा दी गई है।

उपदेशक के वचनों में आप्तता अनिवार्य है। आचार्य अकलंकदेव ने आप्त का अर्थ किया है- जो जिस विषय में अविसंवादक है, वह उस विषय में आप्त है।[1] आप्तता के लिए तद्विषयक ज्ञान और उस विषय में अविसंवादकता अवश्यम्भावी है। आप्त को वीतरागी तथा पूर्णज्ञानी होना आवश्यक है। वीतरागी होने से राग-द्वेषजन्य असत्यता का अभाव हो जाता है तथा पूर्णज्ञान हो जाने से अज्ञानजन्य असत्यता नहीं रहती है। इस प्रकार आप्त के द्वारा उपदिष्ट वचन असन्दिग्ध एवं वस्तु तत्त्व के यथार्थ प्रतिपादक होते हैं। प्राय: सभी भारतीय दर्शनों में सर्वज्ञ पुरुष की चर्चा विभिन्न रूपों में उपलब्ध होती है। सम्प्रति विविध भारतीय दर्शनों में सर्वज्ञता का विचार किया जाता है।

विविध भारतीय दर्शनों में सर्वज्ञ विचार

भारतीय दर्शनों में चार्वाक और मीमांसक इन दो दर्शनों को छोड़कर शेष सभी (न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, बौद्ध और जैन) दर्शन

सर्वज्ञ की सम्भावना करते तथा युक्तियों द्वारा उसकी स्थापना करते हैं। साथ ही उसके सद्भाव में आगम प्रमाण भी प्रचुर मात्रा में उपस्थित करते हैं।

चार्वाक दर्शन में सर्वज्ञ विषयक मान्यता

चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण है कि **यद् दृश्यते तदस्ति, यन्न दृश्यते तन्नास्ति**। इन्द्रियों से जो दिखे वह है और जो न दिखे वह नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूत तत्त्व ही दिखाई देते हैं, अतः वे हैं। पर उनके अतिरिक्त कोई अतीन्द्रिय पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः वे नहीं हैं। सर्वज्ञता किसी भी पुरुष में इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं है और अज्ञात पदार्थ का स्वीकार उचित नहीं है। चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाण के अलावा अनुमानादि कोई प्रमाण नहीं मानते हैं। अतः इस दर्शन में अतीन्द्रिय सर्वज्ञ की सम्भावना नहीं है।

मीमांसक दर्शन का दृष्टिकोण

मीमांसकों का मन्तव्य है कि धर्म, अधर्म, स्वर्ग, देवता, नरक, नारकी आदि अतीन्द्रिय पदार्थ हैं तो अवश्य, पर उनका ज्ञान वेद द्वारा ही संभव है, किसी पुरुष के द्वारा नहीं।[2] पुरुष रागादि दोषों से युक्त है और रागादि दोष पुरुषमात्र का स्वभाव है तथा वे किसी भी पुरुष से सर्वथा दूर नहीं हो सकते। ऐसी हालत में रागी-द्वेषी अज्ञानी पुरुषों के द्वारा उन धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान सम्भव नहीं है। शबर स्वामी ने लिखा है[3]- **चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलं नान्यत् किंचनेन्द्रियम्।**

इससे विदित है कि मीमांसा दर्शन सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान सर्वज्ञ के द्वारा न मानकर वेद द्वारा स्वीकार करता है। किसी इन्द्रिय के द्वारा उनका ज्ञान असम्भव मानता है।

बौद्ध दर्शन में सर्वज्ञता

बौद्ध दर्शन में अविद्या और तृष्णा के क्षय से प्राप्त योगी के परम प्रकर्षजन्य अनुभव पर बल दिया गया है और उसे समस्त पदार्थों का, जिनमें धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ भी सम्मिलित हैं, साक्षात्कर्ता कहा गया है। दिङ्नाग आदि बौद्ध चिन्तकों ने सूक्ष्मादि पदार्थों के साक्षात्करण रूप अर्थ में सर्वज्ञता को निहित प्रतिपादन किया है; परन्तु बुद्ध ने स्वयं अपनी

सर्वज्ञता पर बल नहीं दिया। उन्होंने कितने ही अतीन्द्रिय पदार्थों को अव्याकृत (न कहने योग्य) कहकर उनके विषय में मौन ही रखा।[4] पर उनका यह स्पष्ट उपदेश था कि धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थ का साक्षात्कार या अनुभव हो सकता है। उसके लिए किसी धर्म या पुस्तक की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुत: बौद्ध दर्शन में विशेष बल हेयोपादेय तत्त्वज्ञता पर ही है, ऐसा कहा जा सकता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में सर्वज्ञता

न्याय-वैशेषिक ईश्वर में सर्वज्ञत्व मानने के अतिरिक्त दूसरे योगी आत्माओं में भी उसे स्वीकार करते हैं[5]; परन्तु उनकी वह सर्वज्ञता अपवर्ग प्राप्ति के बाद नष्ट हो जाती है, क्योंकि वह योग तथा आत्ममन: संयोग जन्य गुण अथवा अणिमा आदि ऋद्धियों की तरह एक विभूति मात्र है। मुक्तावस्था में न आत्ममन: संयोग रहता है और न योग। अत: ज्ञानादि गुणों का उच्छेद हो जाने से वहाँ सर्वज्ञता भी समाप्त हो जाती है। हाँ वे ईश्वर की सर्वज्ञता अवश्य अनादि अनन्त मानते हैं।

सांख्य-योग दर्शन में सर्वज्ञत्व

निरीश्वरवादी सांख्य प्रकृति में और ईश्वरवादी योग ईश्वर में सर्वज्ञता स्वीकार करते हैं। सांख्य दर्शन का मन्तव्य है कि ज्ञान बुद्धि तत्त्व का परिणाम है और बुद्धि तत्त्व महत्तत्त्व और महत्तत्त्व प्रकृति का परिणाम है। अत: सर्वज्ञता प्रकृति तत्त्व में निहित है और वह अपवर्ग हो जाने पर समाप्त हो जाती है। योगदर्शन का दृष्टिकोण है कि पुरुष विशेष रूप ईश्वर में नित्य सर्वज्ञता है[6] और योगियों की सर्वज्ञता, जो सर्वविषयक 'तारक' विवेक ज्ञान रूप है, अपवर्ग के बाद नष्ट हो जाती है। अपवर्ग अवस्था में पुरुष चैतन्य मात्र में जो ज्ञान से भिन्न है, अवस्थित रहता है।[7] यह भी आवश्यक नहीं है कि हर योगी को वह सर्वज्ञता प्राप्त हो। तात्पर्य यह है कि योगदर्शन में सर्वज्ञता की सम्भावना तो की गई है, पर वह योग विभूतिजन्य होने से अनादि अनन्त नहीं है, केवल सादि सान्त है।

वेदान्त दर्शन में सर्वज्ञता

वेदान्त दर्शन के अनुसार सर्वज्ञता अन्त:करण निष्ठ है और वह जीवन्मुक्त दशा तक रहती है, उसके बाद वह छूट जाती है। उस समय

जीवात्मा अविद्या से मुक्त होकर विद्यारूप शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्ममय हो जाता है और सर्वज्ञता, आत्मज्ञता में विलीन हो जाती है अथवा उसका अभाव हो जाता है।

जैनदर्शन में सर्वज्ञ विचार

जैनदर्शन में ज्ञान को आत्मा का स्वरूप अथवा स्वाभाविक गुण माना गया है[8] और उसे स्व-पर प्रकाशक स्वीकार किया गया है।[9] यदि आत्मा का स्वभाव ज्ञत्व न हो तो वेद के द्वारा भी सूक्ष्मादि ज्ञेयों का ज्ञान नहीं हो सकता। आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है कि ऐसा कोई भी ज्ञेय नहीं है, जो ज्ञ स्वभाव आत्मा के द्वारा न जाना जाए। किसी विषय में अज्ञता का होना ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषों का कार्य है। जब ज्ञान के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषों का क्षय हो जाता है तो बिना रुकावट के समस्त ज्ञेयों का ज्ञान हुए बिना नहीं रह सकता। इसी को सर्वज्ञता कहा गया है। जैन मनीषियों ने प्रारम्भ से त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती अशेष पदार्थों के प्रत्यक्षज्ञान के अर्थ में इस सर्वज्ञता को पर्यवसित माना है। आगम ग्रन्थों एवं तर्कग्रन्थों में हमें सर्वत्र सर्वज्ञता का प्रतिपादन मिलता है। षट्खण्डागम सूत्रों में कहा गया है कि ''केवली भगवान समस्त लोकों, समस्त जीवों और अन्य समस्त पदार्थों को सर्वदा एक साथ जानते व देखते हैं।[10]''

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है[11]- आवरणों के अभाव से उद्भूत केवलज्ञान वर्तमान, भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित आदि सब तरह के ज्ञेयों को पूर्ण रूप से युगपत् जानता है। जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों को नहीं जानता वह अनन्त पर्यायों वाले एक द्रव्य को भी पूर्णतया नहीं जान सकता और जो अनन्त पर्याय वाले एक द्रव्य को नहीं जानता वह समस्त द्रव्यों को कैसे एक साथ जान सकता है? भगवती आराधनाकार आचार्य शिवकोटि स्वामी ने कहा है- वीतराग भगवान् तीनों कालों, अनन्त पर्यायों से सहित, समस्त ज्ञेयों और समस्त लोकों को युगपत् जानते व देखते हैं।[12] तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी महाराज ने ग्रंथ के मंगलाचरण में **ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां** पद के द्वारा विश्व के चराचर पदार्थों के ज्ञाता, सर्वज्ञ को नमस्कार किया है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भी सर्वतत्त्वों के ज्ञाता, माता के समान हितोपदेशी, भव्यजनों को मोक्षमार्ग के

नेता स्वरूपी सर्वज्ञ भगवान् को नमस्कार किया है।[13] मुनिसुव्रतनाथ भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है- हे भगवान्! चेतन और अचेतन रूप संसार क्षण-क्षण में ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय रूप लक्षण से युक्त हैं, इस प्रकार का यह जो वक्तृप्रवर आपका वचन है, वह आपकी सर्वज्ञता का द्योतक है।[14]

जैनदर्शन सम्मत सर्वज्ञ की सिद्धि पूज्य आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने आप्तमीमांसा नामक ग्रन्थ में तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने भी इस विषय पर भरपूर चिन्तन कर कुशलता पूर्वक सर्वज्ञ की सिद्धि की है।

आप्तमीमांसा में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने युक्ति दी है कि सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ भी अनुमेय होने के कारण किसी के प्रत्यक्ष हैं। इसी प्रकार अन्तरित एवं दूरस्थ पदार्थ भी जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ है।[15] एक दूसरी युक्ति के द्वारा सर्वज्ञता के प्रतिबाधक अज्ञानादि दोषों और ज्ञानावरणादि आवरणों का किसी आत्मविशेष में अभाव सिद्ध करते हुए कहते हैं कि किसी पुरुष विशेष में ज्ञान के प्रतिबन्धकों का पूर्णतया क्षय हो जाता है, क्योंकि उनकी अन्यत्र न्यूनाधिकता देखी जाती है। जैसे स्वर्ण में बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के मैलों का अभाव दृष्टिगोचर होता है।[16] प्रतिबन्धकों के हट जाने पर ज्ञ स्वभाव आत्मा के लिए कोई ज्ञेय-अज्ञेय नहीं रहता। ज्ञेयों का अज्ञान या तो आत्मा में उन सब ज्ञेयों को जानने की सामर्थ्य न होने पर होता है या ज्ञान के प्रतिबन्धकों के रहने से होता है; चूंकि आत्मा 'ज्ञ' है और तप, संयमादि की आराधना द्वारा प्रतिबन्धकों का अभाव पूर्णतया सम्भव है। ऐसी स्थिति में उस वीतराग महायोगी को कोई कारण नहीं कि अशेष ज्ञेयों का ज्ञान न हो।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा 'ज्ञ' ज्ञाता है और इसके ज्ञान स्वभाव को ढकने वाले आवरण दूर होते हैं। अतः आवरणों के विच्छिन्न होने पर ज्ञ-स्वभाव आत्मा के लिए फिर क्या शेष रह जाता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। अप्राप्यकारी ज्ञान से सकलार्थ विषयक ज्ञान होना अवश्यम्भावी है। इन्द्रियां और मन सकलार्थ परिज्ञान में साधक न होकर बाधक है। वे जहां नहीं हैं और आवरणों का पूर्णतः अभाव है, वहां त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती यावज्ज्ञेयों का साक्षात् ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है। आचार्य विद्यानन्द

स्वामी ने भी उक्त आशय का एक श्लोक अष्टसहस्री में उद्धृत किया है।[17] आचार्य अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय में कहा है कि आत्मा में समस्त पदार्थों को जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में उसका ज्ञान ज्ञानावरण कर्म से आवृत रहता है। अत: उसका पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता है; किन्तु जब ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्म का पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को जानने में क्या बाधा है?

आचार्य अकलंकदेव ने सर्वज्ञता विषयक युक्तियां दी हैं। उनके अनुसार आत्मा में समस्त पदार्थों को जानने की सामर्थ्य है। इस सामर्थ्य के होने से ही कोई पुरुष विशेष के द्वारा भी सूक्ष्मादि ज्ञेयों को जानने में समर्थ हो सकता है अन्यथा नहीं। द्वितीय युक्ति के अनुसार यदि पुरुषों को धर्मा-धर्मादि अतीन्द्रिय ज्ञेयों का ज्ञान न हो तो सूर्य, चन्द्रादि ग्रहों की ग्रहण आदि की भविष्यत् दशाओं और उनसे होने वाला शुभाशुभ का अविसंवादी उपदेश कैसे हो सकेगा? तृतीय युक्ति के अनुसार जिस प्रकार अणु परिमाण बढ़ता-बढ़ता आकाश में महापरिमाण या विभुत्व का रूप ले लेता है, क्योंकि उसकी तरतमता देखी जाती है, उसी तरह ज्ञान के प्रकर्ष में भी तारतम्य देखा जाता है। अत: जहां वह ज्ञान सम्पूर्ण अवस्था (निरतिशयपने) को प्राप्त हो जाता है, वहीं सर्वज्ञता आ जाती है। अंतिम युक्ति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने कहा है कि सर्वज्ञता का कोई बाधक प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाण तो इसके लिए बाधक नहीं हो सकते, क्योंकि वे विधि (अस्तित्व) को विषय करते हैं। यदि वे सर्वज्ञता के विषय में दखल दें तो उनसे सर्वज्ञता का सद्भाव ही सिद्ध होगा। मीमांसकों का अभाव प्रमाण भी उसका निषेध नहीं कर सकता, क्योंकि अभाव प्रमाण के लिए यह आवश्यक है कि जिसका अभाव करना है उसका स्मरण और जहाँ उसका अभाव करना है, वहाँ उसका प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक ही नहीं प्रत्युत अनिवार्य है। इस तरह जब कोई बाधक नहीं है तो कोई कारण नहीं कि सर्वज्ञता का सद्भाव सिद्ध न हो।[18]

इस प्रकार से जैनाचार्यों ने विविध ग्रन्थों में युक्ति एवं आगम द्वारा सर्वज्ञ की व्याख्या प्रस्तुत की है।

चैतन्य चन्द्रोदय में सर्वज्ञ विमर्श

चैतन्य चन्द्रोदय परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज द्वारा संस्कृत भाषा में निबद्ध काव्य है। इसमें सर्वज्ञ के स्वरूप एवं उनके आत्मगुणों के बारे में सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। सर्वज्ञ दशा में जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय से युक्त होता है। प्रतिपक्षी द्वारा शंका करने पर कि छद्मस्थ अवस्था में दर्शनोपयोग का जो प्रयोजन है वह निश्चित ही क्रम से हो तथा बाद में सर्वज्ञ दशा में पाप की हानि हो जाने से ज्ञानोपयोग मात्र ही कार्यकारी होता है।[19] **छद्मस्थतायां किल दर्शनस्य प्रयोजनं यत्क्रमतोऽस्तु पश्चात्।**

इस पक्ष का निरसन करते हुए पूज्य आचार्य श्री कहते हैं- द्वन्द्व से रहित जन कहते हैं कि निश्चय से जो कुछ समस्त जगत् के पदार्थ हैं वे दोनों धर्म वाले हैं। हे साधु! ज्ञानोपयोग का विषय विशेष को ग्रहण करना है और दर्शनोपयोग का विषय निश्चित ही सामान्य को ग्रहण करना है।[20] वस्तुतः कोई भी गुण किसी दूसरे गुण का न आधेय होता है, न आधार होता है, न कार्य होता है। जो दर्शन गुण है वह ज्ञान गुण नहीं है और न अन्य है। जो ज्ञान गुण है वह दर्शन गुण नहीं है और न अन्य है। जो दर्शन का विषय है वह ज्ञान का विषय नहीं है, जो ज्ञान का विषय है वह दर्शन का विषय नहीं है। समस्त गुण शक्ति रूप से द्रव्य में अपने स्वरूप से ही रहते हैं। ज्ञानगुण सविकल्प है, दर्शन गुण निर्विकल्प है।[21]

दर्शन और ज्ञान गुण के विषय को नहीं जानने वाले वे पूर्वाग्रही मुक्त नहीं होते हैं। पूर्वाग्रह को नहीं छोड़ना ही मोह है।[22] उस पूर्वाग्रह को छोड़े बिना क्या दोष होगा? कहते हैं- सर्वज्ञ अवस्था में यदि विज्ञान मात्र कार्यकारी है, ऐसा आपने माना है तो दर्शन गुण की हानि हो जाएगी। इस दर्शन को जो आवृत करता है, वह दर्शनावरण कर्म होता है। ढकने योग्य दर्शन है, जब वह ही नहीं है तो उसको ढकने वाला कर्म भी नहीं होगा। दर्शन की हानि होने पर दर्शनावरण कर्म का अभाव होगा, जिससे कर्म सात ही रह जाएंगे, यह दोष आएगा। जैसा कि पूज्य आचार्य वीरसेन स्वामी ने कहा है- यदि दर्शन का सद्भाव न माना जाए तो दर्शनावरण के बिना सात सात कर्म ही होंगे, क्योंकि आवरण करने योग्य दर्शन का अभाव मानने पर

उसके आवरण का सद्भाव मानने में विरोध आता है।[23] इस प्रकार प्रकृत युक्ति के द्वारा सर्वज्ञ में ज्ञान तथा दर्शन दोनों गुणों की युगपत् सत्ता सिद्ध की है। 'ज्ञान ही सुख है' इस प्रकार के एकान्त अभिप्राय करने वाले कहते हैं- जिनके घातिया कर्म क्षय हो चुके हैं, जो अतीन्द्रिय हैं। अनन्त जिनका उत्तम वीर्य है, जो पूर्ण तेजयुक्त हैं, वह आत्मा ज्ञान और सुख में परिणमन करता है।[24] इसलिए निराकुल लक्षण वाला ज्ञान ही सुख है यह सिद्ध होता है।

इस एकांत धारणा का यहां निराकरण करते हैं- ज्ञान में जो सुख कहा है वह मुख्यता का अभाव होने से उपचार मात्र ही है। भिन्न-भिन्न गुणों का एक साथ सम्बन्ध यहां उपचार से प्रवृत्त है। भिन्न गुणों के भिन्न कार्य देखे जाने के कारण ज्ञान गुण से सुख गुण भिन्न है। भिन्न-भिन्न कार्य करने वाले होने से समस्त गुण आत्मा में भिन्न रूप से रहते हैं। इसलिए भेद विवक्षा से संज्ञा लक्षण और प्रयोजन आदि की अपेक्षा इन गुणों में भिन्नपना भी जानना चाहिए। यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो फिर अनन्तचतुष्टय रूप चेतनात्मक कहे जाने वाले मुख्य गुण तीन होंगे, यह दोष आएगा। इसी प्रकार ज्ञान मार्गणा में क्या सुख गुण का ग्रहण किया है? नहीं किया है। यह दूसरा दोष उत्पन्न होगा। अर्थात् ज्ञान ही यदि सुख होता तो ज्ञान मार्गणा में सुख का ग्रहण होता। आगम प्रमाण देते हुए पूज्य आचार्यश्री ने कहा है- इन पूज्य अरहंत भगवान् में जो कि निश्चित रूप से आप्त रूप से सहित हैं, पापकर्म की हानि से तो ज्ञान जिनका पूर्णता को प्राप्त है, उनमें भी वह वेदनीय कर्म के नाश से उत्पन्न होने वाला अव्याबाध सुख (सिद्धों में पाया जाने वाला निर्बाध सुख) निश्चय से नहीं देखा जाता है। इस प्रमाण से सुख गुण ज्ञान गुण से भिन्न सिद्ध होता है।[25]

किसी के द्वारा शंका करने पर कि चूंकि मोहनीय कर्म के क्षय से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। अतः सर्वज्ञदेव के अनन्त सुख की तरह ही क्षीणमोह गुणस्थान में अनन्त सुख होता है। ऐसा कहने पर पूज्य आचार्यश्री उनका निराकरण करते हैं कि यह कथन योग्य नहीं है, क्योंकि अनन्तवीर्य के बिना भी अनन्त सुख और अनन्त ज्ञान होता है, यह आगम से विरुद्ध है।[26]

वक्तुं न चार्हं जिनपे यथा स्यात् प्रक्षीणमोहेऽपि सुखं ह्यनन्तम्।

अनन्तवीर्य के साथ ही अनन्तज्ञान की उत्पत्ति सिद्धान्त में कही है, क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय एक साथ ही होता है। अनन्त शक्ति के बिना चूंकि अनन्त को जानने की और देखने की शक्ति भी असम्भव है। इसलिए अनन्त सुख को अनुभवने की शक्ति भी असम्भव है यह तात्पर्य है। बारहवें गुणस्थान में मोहनीय का क्षय हो जाने पर भी ज्ञानावरण कर्म के क्षय के बिना अनन्तसुख की उपलब्धि नहीं होती है, क्योंकि अनन्तचतुष्टय की उत्पत्ति एक साथ होती है। कहा भी है- नोकषाय और विघ्नचतुष्क के क्षय से अनन्त, अनुपम, अव्याबाध, निरापेक्ष आत्मा से उत्पन्न सुख होता है।[27]

सर्वज्ञ के विमर्श में पूज्य आचार्यश्री ने मीमांसकों का मत रखते हुए कहा है कि वक्ता होते हुए भी सर्वज्ञ होना और आप्तपना सम्भव नहीं है। कोई भी मनुष्य आप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि वह वक्ता है, इन्द्रिय ज्ञान से सहित है, इच्छावान है एवं पुरुष है। जो आत्मस्थ है वह इस प्रकार प्रखर वक्ता नहीं हो सकता है। जो व्यक्ति दूसरों को हित का उपदेश देता है वह समस्त द्रव्यों का ज्ञाता, सर्वज्ञ और क्षुधा आदि दोषों से रहित आप्त नहीं हो सकता है तथा जो अपनी शुद्ध आत्मा में सन्तुष्ट होकर रहता है वह आत्मस्थ प्रखर वक्ता नहीं हो सकता है। बोलने का अर्थ ही परोन्मुखता है। जो परोन्मुख है, उसकी आत्मा में स्थिति कैसे हो सकती है? क्योंकि इन दोनों का एक साथ होना सहावस्थान विरोध है। दूसरी बात कि बोलना मनपूर्वक इच्छा के द्वारा होता है। इच्छा सहित के निर्दोष वाक्य रचना और सभी आत्मा का हित होना संभव नहीं है और जो इच्छा से रहित है, उसके वचन प्रामाणिक कैसे हो सकते हैं? क्योंकि गली में घूमने वाले पागल व्यक्ति की तरह बिना विचारे बोलता है।[28]

उक्त अभिप्राय का निराकरण करते हुए टीकाकार मुनिश्री प्रणम्यसागर जी महाराज लिखते हैं- वह सर्वज्ञ अथवा आप्त कर्मसमूह का विनाशक है। असत्य और उभय वचन का कारण मन है। वह मन क्षायोपशमिक भाव का अनुसरण करता है। वह मन उन क्षायिक भाव के साथ रहने वाले अर्हन्त में सम्भव नहीं है, क्योंकि उनके क्षयोपशम ज्ञान का अभाव है। इसलिए

कर्मसमूह का अभाव होने से उनमें सर्वज्ञता है। इसी कारण से वह ही विराग हैं। वचनों का निर्दोषपना और सर्वात्म हितपना भी बाधित नहीं है, क्योंकि वे विराग हैं। सर्वज्ञदेव के मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश हो जाने से मोह की पर्याय स्वरूप इच्छा का अभाव हो गया है। अतएव वीतराग भगवान् की वाणी इच्छा से रहित है। जैसाकि पूज्य आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने भी कहा है[29]-

अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान् मुरजः किमपेक्षते॥

अर्थात् सर्वज्ञ देव राग के बिना अपना प्रयोजन न होने पर भी भव्य जीवों को हित का उपदेश देते हैं, क्योंकि वादक के हस्तस्पर्श से शब्द करता हुआ मृदंग क्या अपेक्षा रखता है? कुछ नहीं।

कहा भी है- **एक अनेक अर्थ वाले यह आपके हितकारी वचन सुनकर वक्ता की निर्दोषता को कौन नहीं पहचान सकते हैं? अर्थात् सभी पहचान लेते हैं। जैसे जो व्यक्ति ज्वर से पीड़ित है वह उसके स्वर से जान लिया जाता है।**[30] इस प्रकार जो सकलज्ञ है, वह वक्ता है, यह इष्ट है। सयोगी केवली भगवान् के इस प्रसंग में कोई भी दोष की पुष्टि नहीं होती है।

जो कोई सर्वज्ञ में क्षुधा-तृषा आदि दोष एवं रोग व चिकित्सा मानते हैं, उनका निराकरण पूज्य आचार्यश्री करते हुए कहते हैं[31]- जो पहले कहा है कि शरीर की अवस्था ही इस प्रकार जाननी चाहिए? यह ठीक नहीं है। वह शरीर की स्थिति वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से अनन्तवीर्य का लाभ हो जाने से होती है। उस अनन्तवीर्य के साथ लाभान्तराय कर्म का क्षय भी होता है, जिसके कारण प्रतिक्षण अत्यन्त स्निग्ध, दिव्य, सूक्ष्म, परमौदारिक शरीर से प्रतिबद्ध जितनी आयु शेष बची है, उतनी मात्र स्थिति से युक्त आने वाली शरीर वर्गणाओं के द्वारा उस शरीर में उपचय बना रहता है। यदि कहो कि ज्ञान, ध्यान और संयम की सिद्धि के लिए केवली भगवान् भोजन करते हैं तो वह भी अनुचित है, क्योंकि उन्हें तीन कालवर्ती और तीन लोक के समस्त पदार्थों का समूह प्रत्यक्ष है और यथाख्यातचारित्र विहार शुद्धि संयम से सहित हैं। मन रहित होते हैं इसलिए उन्हें ध्यान के लिए भी प्रयास

नहीं करना पड़ता है। उन केवली के क्षुधा से उत्पन्न वेदना के प्रतीकार के लिए भुक्ति होती है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि अनन्त सुख से सम्पन्न और मोहनीय कर्म से रहित के वह वेदना नहीं होती है। उन केवली के असाता कर्म के उदय से उत्पन्न वह वेदना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रतिसमय ईर्यापथ आस्रव से साता स्वरूप उसी क्षण उदय स्वभाव वाला जो कर्माहार होता है, वह असाता के उदय को पराभूत कर देता है। यदि कहो कि प्राणरक्षा के लिए आहार ग्रहण होता है, तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि उत्कृष्ट संहनन वाले चरमशरीरी के लिए वह अप्रयोजनीय है। क्षुधा और अतिसार आदि रोग भी मोह का क्षय होने पर समर्थ नहीं हैं। पहले ही असाता आदि वेदकर्म की उदीरणा का अभाव हो जाने से वह वेद भी कार्यकारी नहीं होता है।[32]

यहाँ किसी के द्वारा जिज्ञासा करने पर कि वह अर्हन्त भगवान् मोक्ष क्यों नहीं गए?[33] समाधान करते हैं कि आयुकर्म का हनन नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने में हिंसा का प्रसंग आता है। इसलिए शेष कर्मों को समान करके और उनका नाश करके जितनी आयु आत्मा ने प्राप्त की है, उतनी पूर्ण करके वह अर्हंत प्रभु विलम्ब से मोक्ष प्राप्त करते हैं।[34]

उक्त संदर्भ में पूज्य आचार्य श्री द्वारा किया गया पद्यानुवाद भी दृष्टव्य है-

प्रथम आयु सम सब कर्मों की, स्थिति को करना होता है।
यथाकाल फिर ध्यान योग से, उनको हरना होता है।।
प्राणघात से हिंसा होती, आयु कर्म को प्राण कहा।
उसे पूर्ण कर बाद मोक्ष को, करते जिन प्रस्थान अहा।।

इस प्रकार से जैनाचार्यों द्वारा पूर्व में कथित सर्वज्ञ लक्षण को वर्तमान में भव्य जीवों को परिचित कराने हेतु संत शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने चैतन्य चन्द्रोदय में आगम के आलोक में सर्वज्ञ सिद्धि जैसे कठिन विषय को भी भव्य जीवों के समक्ष सरल एवं सहज भाषा में उपस्थापित किया है। साथ ही पूज्यमुनि श्री प्रणम्यसागर जी महाराज द्वारा की गई चन्द्रिका टीका से मानो यह कृति भव्य जीवों के संतप्त हृदयों को शीतल चांदनी प्रदान कर रही है।

संदर्भ :

1. यो यत्राविसंवादकः सः तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः।
   तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः तदर्थज्ञानात्। (अष्टसहस्री/236)
2. तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानापि।
   न स्वर्गदेवताऽपूर्व-प्रत्यक्षकरणे क्षमः।। (कुमारिलभट्ट, मीमांसाश्लोकवार्तिक)
3. शाबरभाष्य/1-1-5
4. मज्झिमनिकाय 2-2-3, मूलमालुंक्यसूत्रसंवाद।
5. प्रशस्तपदभाष्य, पृ. 187, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः- योगसूत्र।
6. तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्- योगसूत्र, 1-1-3
7. उपयोगो लक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र/2/8
8. णाणं पयासयं।
9. षट्खण्डागम पयदिसूत्र/78
10. प्रवचनसार/1/47, 48, 49
11. पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णिवि काले सपज्जए सव्वे।
    तह वा लोगमसेसं पस्सदि भयवं विगयमोहो।। (भगवती आराधना/2135)
12. सर्वस्य तत्त्वस्य भवान् प्रमाता, मातेव बालस्य हितानुशास्ता।
    गुणावलोकस्य जनस्य नेता, मयापि भक्त्या परिणूयतेऽद्य।।
    (स्वयंभूस्तोत्र/सुपार्श्वजिनस्तवनम्/4)
13. स्थितिजनननिरोधलक्षणं, चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम्।
    इति जिन! सकलज्ञलांछनं, वचनमिदं वदतांवरस्य ते।।
    (स्वयंभूस्तोत्र/मुनिसुव्रतजिनस्तवनम्/4)
14. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
    अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः।। (आप्तमीमांसा / 5)
15. दोषावरणयोर्हानि-र्निश्शेषास्त्यतिशायनात्।
    क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः।। (आप्तमीमांसा / 4)
16. ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
    दाह्योऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने।। (अष्टसहस्री/1/पृष्ठ 50)
17. (क) अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भववद्बाधकप्रमाणत्वात्, सुखादिवत्।
    (सिद्धिविनिश्चय/वृ. 8-6)
    (ख) अष्टसहस्री/कारिका/5 सर्वज्ञतायामघहानितश्च विज्ञानमात्रं किल कार्यकारि।।
    (चैतन्य चन्द्रोदय / 10)
18. यद्वस्तुतो वस्तु समस्तमस्तु द्वन्द्वात्मकं द्वन्द्वविमुक्त आह।
    ज्ञानस्य साधो! विषयो विशेषः सामान्यमेतत्किल दर्शनस्य।। (चैतन्य चन्द्रोदय/11)

19. चैतन्य चन्द्रोदय / टीका / पृष्ठ 18
20. तथापि ते पूर्वदशा न मुक्ता मुक्ता विमोहादनुयान्ति मौनम्।
वार्यं विना वारक एष कोऽस्तु कर्माणि सप्तेति भवेद्धि दोषः।।(चैतन्य चन्द्रोदय/12)
21. किंच, सत्त कम्माणि होज्ज, आवरणिज्जाभावे आवरणस्स सत्तविरोहादो।
22. पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अहियतेजो।
जदो अदिंदओ सो णाणं सोक्खं च परिणमदि।। (प्रवचनसार / 19)
25. ज्ञाने सुपूर्णे त्वघहानितोऽस्मिन्, पूज्येऽर्हति ह्याप्ततयाऽनुयुक्ते।
सुखं ह्यबाधं न हि दृश्यते त-दिति प्रमाणात्सुखमस्तु भिन्नम्।।(चैतन्य चन्द्रोदय/15)
अनन्तवीर्येण विनाप्यनन्तं ज्ञानं सुखं किं समये समुक्तम्।। (चैतन्य चन्द्रोदय/94)
26. णव णोकषायविग्घचउक्काणं च य खयादणंतसुहं।
अणुवममव्वावाहं अप्पसमुत्थं णिरावेक्खं। (चैतन्य चन्द्रोदय / टीका / पृ. 148)
27. वक्ता भवन्नो सकलज्ञ आप्त आत्मस्थ एवं प्रखरो न वक्ता।
कर्मौघहन्तेति विराग इष्टश्चास्मिन् प्रसंगे नहि दोषपुष्टः।। (चैतन्य चन्द्रोदय / 95)
28. रत्नकरण्डक श्रावकाचार / 8
29. नानार्थमेकार्थमदस्त्वदुक्तं हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति ज्वरेण मुक्तः सुगमः स्वरेण।।
(चैतन्य चन्द्रोदय/टीका/उद्धृत श्लोक/पृ.150)
30. भुङ्क्तेऽत्र तिष्ठन् स गुणे सयोगे किमेकशो वा बहुशो द्विशो वा।
रुग्णोऽप्यसातोदयतश्चिकित्स्यस्तनोरवस्था त्विति वेदितव्या ।।
तनुस्थितिः साऽमितवीर्यलाभात् सदागताभिस्तनुवर्गणाभिः।
मोहक्षयेऽलं न रुजे क्षुधायै वेदोऽप्यभावात्तदुदीरणायाः ।। (चैतन्य चन्द्रोदय/96-97)
31. चैतन्य चन्द्रोदय / टीका / पृ. 152
32. अनन्तशक्तौ च दृगादिपूर्तौ कर्माणि सर्वाणि विहत्य मोक्षं।
किं कारणं नो गतवान् स नोर्हन् नार्होऽसि वक्तुं त्विति हे हितैषिन् ।।
(चैतन्य चन्द्रोदय/98)
33. हन्तव्य मायुर्न यतोऽत्र हिंसा ततः स दूरः समुपैति मोक्षम्।
आपूर्य पूर्णं स्वगतं तदायुः शेषान् समीकृत्य विधींश्च हत्वा।।
(चैतन्य चन्द्रोदय/99)

-किशनगढ, अजमेर (राज.)

******

जैन धर्म आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में

–ब्र. समता जैन मारौरा

जैन धर्म वैज्ञानिक और वीतराग विज्ञानता का धर्म है। धर्म और विज्ञान परस्पर दो समान्तर विचार धाराओं एवं कार्य प्रणालियों के द्योतक माने जाते हैं। धर्म को परम्पराओं एवं क्रियाकाण्डों का कोष माना जाता है, जबकि विज्ञान प्रगतिशीलता और आधुनिकता का साक्षात् बिम्ब है। जैन धर्म में आस्था रखने वाले बंधुओं को तो विशेषत: गर्व होना चाहिए कि आज विज्ञान का वृक्ष हमारे सिद्धांतों की धरा पर पल्लवित और पुष्पित हो रहा है। जैन धर्म के सभी सिद्धान्त मूर्तिमंत एवं जीवंत हैं। सर्वज्ञ तीर्थंकरों ने विश्व कल्याण के लिये जो उपदेश दिये थे, वह आज आधुनिक विज्ञान से सिद्ध हो रहे हैं। अत: जैन दर्शन में जिन सिद्धांतों का विवेचन किया गया है, आधुनिक विज्ञान भी निरंतर उन सत्यों की ओर बढ़ रहा है, उन्हें जानने का प्रयास कर रहा है।

वर्तमान समय का युवा वर्ग वैज्ञानिक पद्धति को सीखने का इच्छुक है। यदि युवा वर्ग विज्ञान के अध्ययन के साथ जैन धर्म के सिद्धान्तों को समझने का प्रयास करेगा तो वह बहुत सारे तथ्यों को उजागर कर सकेगा। लौकिक शिक्षा के साथ-साथ आध्यात्मिक शिक्षा को भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लेने का समय आ गया है। तभी जैन सिद्धांतों की प्रासंगिकता को हम वैज्ञानिक परिपेक्ष्य में समझ सकेंगे। आज का यंत्र विज्ञान जब वीतराग विज्ञानता को मानेगा, तभी वह पूर्णता को प्राप्त हो पाएगा। यदि वर्तमान में आधुनिक विज्ञान उपयोगी है तो वीतराग विज्ञान भी प्रासंगिक है, क्योंकि आधुनिक विज्ञान और वीतराग विज्ञान परस्पर पूरक हैं।

विज्ञान, विवेक और युक्ति को कभी छोड़ता नहीं है। इसलिये वह अपने पथ से कभी भी भटकता नहीं है। फलत: उसमें विसंगतियों और विकृतियों का प्रवेश नहीं होता, किन्तु यह बात भी निश्चित है कि वैज्ञानिक जानते हुए भी कभी भी गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व से दूर

नहीं हो पाते हैं, क्योंकि मिथ्यात्व का नाश धर्म के माध्यम से ही होता है।

अतः आधुनिक विज्ञान में से उपादेयभूत वस्तुतत्त्व को जानकर धर्म-दर्शन के विज्ञान को समझना नितान्त आवश्यक है।

विज्ञानं भौतिकं ज्ञानं, दर्शनं तत्त्वनिर्णयः।
धर्म आत्मोन्नते मार्गः उत्तरोत्तरे महान्॥ कनकनंदी

अर्थात् भौतिक ज्ञान को विज्ञान कहते हैं, तत्त्व निर्णय को दर्शन कहते हैं, जिन मार्ग पर चलने से आत्मिक उन्नति, शांति मिलती है, उसे धर्म कहते हैं। विज्ञान से दर्शन तथा दर्शन से धर्म श्रेष्ठ है।

विज्ञान Science- वि= विशेष, ज्ञान = वस्तु स्वरूप को जानना

विज्ञान Science = शेष वस्तु के सत्य स्वरूप को विशेष रूप से अर्थात् परीक्षण, निरीक्षण से जानने को विज्ञान कहते हैं।

आज जो वैज्ञानिक अपने शोध एवं बोध से प्राप्त ज्ञान को सत्य मान रहे हैं, कल सत्य के प्रकाश में असत्य साबित हो जाता है, तब सबके सामने अपनी भूल स्वीकार भी करते हैं। यह वैज्ञानिकों का एवं वैज्ञानिक युग का सबसे प्रधान एवं प्रथम सुवर्ण नियम है। विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान इन्द्रिय उपज है, परन्तु धर्म आत्मा से अनिसृत है और परस्पर सूक्ष्म विज्ञान की परिसीमा दैहिक एवं लौकिक है, परन्तु धर्म सर्वक्षेत्र, सर्वकाल, सर्वव्यापी, सार्वभौमिक असीम तत्त्व है।

पं. दौलतराम जी ने कहा है-

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवस्वरूप शिवकार, नमहूँ त्रियोग सम्हारिकें॥ छहढाला

यहाँ वीतराग विज्ञान का तात्पर्य आत्मा के विज्ञान से है, जबकि आधुनिक विज्ञान (Science) तो जड़ पदार्थों के अध्ययन या ज्ञान का नाम है।

धर्म (Religion)- जो सत्य को धारण करे, उसे धर्म कहते हैं। विज्ञान से परीक्षित, दर्शन से निर्णीत उस आध्यात्मिक (पवित्र भावनात्मक) मार्ग को धर्म कहते हैं, जिस पर आचरण करने से जीव को शाश्वतिक, अभौतिक, अतीन्द्रिय, आत्मोत्थ, अपरिमित, निरुपम सुख और शांति की

प्राप्ति का मार्ग है।

धर्मः सर्व सुखाकरो हितकरो, धर्मं बुधाश्चिन्वते।
धर्मेणैव समाप्यते शिव सुखं, धर्माय तस्मै नमः॥
धर्मान्नास्त्यपरः सुहृद्भव-भृतां, धर्मस्य मूलं दया।
धर्मे चित्तमहं दधे प्रतिदिनं, हे धर्म! मां पालय॥

धर्म समस्त प्रकार के सुखों को एवं हितों को करने वाला है, धर्म से ही शाश्वतिक सुख प्राप्त होता है। धर्म को छोड़कर दुःखी संसारी जीवों का कोई भी बंधु-बांधव नहीं है। इसलिये हे सुख इच्छुक ज्ञानी जीव! धर्म का संचय करो। धर्म का मूल विश्व-प्रेम तथा प्राणीमात्र पर दया है। मैं अपने धर्म में अपने चित्त का समर्पण करता हूँ। हे सर्व सुख दातार धर्म! मेरा पालन करो।

विज्ञान की अन्य शाखायें जैसे वनस्पति शास्त्र, प्राणी शास्त्र, मानव विज्ञान, आहार-विज्ञान, भूगर्भ शास्त्र, रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, गणित शास्त्र, न्यूक्लियर विज्ञान, सूक्ष्मजीव विज्ञान, सामाजिक विज्ञान आदि हैं। इस विज्ञान की विकासगाथा लगभग सिर्फ 300 वर्षों की है।

शिवोधर्मेण सहितः शवश्च रहितो मतः।
हीनोविज्ञान दृष्टिभ्यां, पङ्गुर्मूढश्च सम्मतौ॥

अर्थात् धर्म सहित जीव, शिव (मंगल) स्वरूप है। धर्म से रहित जीव शव (अमंगल/अपवित्र) स्वरूप है। विज्ञान रहित जीव पंगु के समान है तथा धर्म से रहित जीव मूढ़ के समान है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी कहा है- Science is blind without religon and religion is lame without sceince. धर्म से रहित विज्ञान अंधा है तथा विज्ञान से रहित धर्म पंगु है।

जिस प्रकार अंधा व्यक्ति दृष्टि शक्ति के अभाव में पैर होते हुए भी ठीक प्रकार से गमन नहीं कर सकता है और गमन करते हुए भी अनेक आपत्तियों को मोल लेता है, उसी प्रकार विज्ञान उन्नति करते हुए भी उदात्त भावनाओं से रहित होने के कारण जीव जगत् के लिये अनेक आपत्तियों को मोल लेता है। इस प्रकार पंगु देखते हुए भी, चाहते हुए भी

अपने लक्ष्य स्थल पर नहीं पहुंच पाता है, उसी प्रकार धर्म विज्ञान से रहित होने पर मिथ्या परम्परा में जकड़कर पंगुवत् उन्नतशील दुनिया के साथ कदम से कदम मिलाकर आगे नहीं बढ़ पाता है एवं स्वलक्ष्य को भी प्राप्त नहीं कर पाता है।

भौतिक विज्ञान ने यान, वाहन, टीवी, रेडियो, कम्प्यूटर, पंखा, कूलर, ए.सी. आदि भौतिक साधनों से जीवों को सुख पहुंचाया है, जिनके माध्यम से मानसिक सुख मिलता है, परन्तु धर्म से शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, इहलोक, परलोकादि सम्बन्धी सुख प्राप्त होता है। Look like on inncent flower, but the serpent under it. अर्थात् धर्म से रहित विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति मानव उसी प्रकार ऊपर से सुंदर है, जिस प्रकार फूल से ढका हुआ विषधर सर्प।

धर्म से रहित विज्ञान बाह्य से देखने पर मनमोहक पुष्प के समान निर्दोष है, परन्तु अंतरंग में सर्प जैसा है। धर्म सहित जीवन, पवित्र जीवन है एवं धर्म रहित जीवन अभिशप्त जीवन है। जहाँ से विज्ञान की सीमा समाप्त होती है, वहाँ से धर्म प्रारम्भ होता है।

जिस प्रकार जीवन धारण करने के लिये आहार, पानी, वायु की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन-यापन करने के लिये विज्ञान रूपी आहार, वायुरूपी धर्म की आवश्यकता होती है, क्योंकि बिना आहार के जीव कुछ दिनों तक ही जीवित रह सकता है, परन्तु वायु के बिना जीव क्षणभर में ही अपने प्राण गंवा देता है। जहाँ पर धर्म है, वहां पर विज्ञान निश्चित है, परन्तु जहां पर विज्ञान है, वहां पर धर्म कथंचित् हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।

जिस प्रकार एक कार के लिये गति, प्रकाश तथा ब्रेक चाहिये, उसी प्रकार उन्नतशील जीवन जीने के लिये विज्ञान तथा धर्म चाहिये। विज्ञान यदि गति है तो धर्म ब्रेक है। जिस प्रकार गति के बिना कार का कोई महत्त्व नहीं है, उसी प्रकार विज्ञान में धर्म के बिना कोई महत्त्व नहीं है।

जैनधर्म और भौतिक-रसायन विज्ञान :

परमाणु विज्ञान की दृष्टि में- सन् 1803 में डाल्टन ने यह माना

कि परमाणु एक मूलभूत कण है, वह रासायनिक तत्त्वों का ऐसा सूक्ष्मतम भाग है, जिसका रासायनिक क्रियाओं द्वारा और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता है।

सन् 1897 में जे. जे. थॉमसन ने माना कि परमाणु पदार्थ का मूलभूत कण नहीं है, अपितु electron & proton से मिलकर बना है। बाद में चेडविक ने न्यूट्रॉन की खोज की। उसके बाद रदरफोर्ड, बोर, गामा, फर्मी, पाली, प्लैक आदि वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि परमाणु द्रव्य का अंतिम कण नहीं है, अपितु एक विशेष प्रकार की संरचना है।

परमाणु जैन दर्शन की दृष्टि में- जैन दर्शन में परमाणु का तात्पर्य पुद्गल के उस लघु अंश से है, जिसे और विभाजित न किया जा सके, अर्थात् जो एक प्रदेशी है। आचार्य अकलंकदेव ने कहा है कि- सभी पुद्गल स्कंध परमाणुओं से निर्मित हैं और परमाणु पुद्गल के सूक्ष्मतम अंश हैं। परमाणु नित्य अविनाशी और सूक्ष्म है। वह दृष्टि द्वारा लक्षित नहीं हो सकता है। परमाणु में कोई एक रस, एक गंध, एक वर्ण और दो स्पर्श (स्निग्ध अथवा रूक्ष, शीत या उष्ण) होते हैं।

आधुनिक विज्ञान में अणु तथा परमाणु भिन्न हैं। विज्ञानानुसार पदार्थ का वह सूक्ष्मतम अंश जो दो या दो से अधिक समान परमाणुओं अथवा असमान परमाणुओं के योग से निर्मित होता है तथा जो स्वतंत्र अवस्था में रह सकता है और जिसमें पदार्थ के समान्तर गुण विद्यमान हों, अणु कहलाता है। इस परिभाषानुसार विज्ञान द्वारा मान्य अणु एवं जैन दर्शन द्वारा मान्य परमाणु न होकर स्कंध ही है, क्योंकि एक से अधिक अणु या परमाणुओं के समूह को स्कंध कहते हैं।

स्कंध उत्पत्ति की प्रक्रिया- स्कंध उत्पत्ति की प्रक्रिया को आचार्य उमास्वामी ने कहा है कि- **भेद-संघातेभ्य उत्पद्यन्ते।** अर्थात् स्कंध की उत्पत्ति भेद से, संघात से और भेद-संघात द्वारा होती है।

आधुनिक विज्ञान भी यही मानता है। यहां भेद का अर्थ fission और संघात का तात्पर्य संयोजन fussion से है तथा भेद-संघात का अर्थ विघटन व संयोजन का साथ-साथ होना है। अतः कुछ स्कंध भेद से

निर्मित होते हैं, कुछ स्कंध से अर्थात् परस्पर संयोजन के फलस्वरूप बनते हैं तथा कुछ स्कंध ऐसे भी हैं जो विघटन और संयोजन दोनों प्रक्रियाओं के साथ होने पर निर्मित होते हैं।

जैन धर्म और आहार विज्ञान- कहा है- 'आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धौ' यदि हमारा आहार शुद्ध है तो सब कुछ शुद्ध है, क्योंकि आज का विज्ञान भी इसे अच्छी तरह मानता है कि वैक्टीरिया किसी भी वस्तु को कितनी जल्दी नष्ट कर देते हैं।

जैन धर्म में भोजन सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु का मर्यादा काल ऋतुओं के अनुसार बताया गया है, जिससे भोजन निर्दोष हो तथा प्रदूषित न होने पावे, ताकि स्वास्थ्य के साथ-साथ साधना भी अच्छे से हो सके।

जिस प्रकार दूध को छानने के बाद तुरन्त या 48 मिनिट के अन्दर उबाल लेना चाहिये, क्योंकि इस काल के बाद उसमें असंख्यात जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। आधुनिक विज्ञान भी यही कहता है कि जल, दूध आदि तरल पदार्थों को यदि आधा घण्टे तक 63^0c तापमान पर या 3 मिनिट तक 80^0c तापमान पर गर्म किया जाए तो बैक्टीरिया दूर हो जाते हैं, जिसे पाश्चुराइजेशन कहते हैं। जैनाचार्यों ने आटे की मर्यादा सर्दी में 7 दिन, गर्मी में 5 दिन, वर्षा में 3 दिन की कही है। रोटी व पकी हुई दाल-चावल की मर्यादा 6 घण्टे, तले हुए पदार्थों की मर्यादा 24 घण्टे की बताई है, जिसे वैज्ञानिकों ने भी स्वास्थ्य की दृष्टि से परीक्षण करके सही माना है।

जैनाचार्यों ने श्रावक के लिये 5 उदुम्बर फल तथा मांस, मद्य, मधु के त्याग करने को कहा है। इन वस्तुओं को वैज्ञानिक भी अनुपसेव्य कहते हैं।

रात्रि भोजन त्याग- जैन धर्म में रात्रि भोजन त्याग की परम्परा अत्यधिक वैज्ञानिक परम्परा है। रात्रि में अथवा कृत्रिम प्रकाश में विषाक्त सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती है, वे सूक्ष्मजीव भोजन को विषाक्त बना देते हैं और रात में किए गये भोजन का परिपाक भी सम्यक् रूपेण नहीं होता है। अत: रात्रि भोजन में अनेक जीवों की विराधना एवं असम्यक् रूपेण पाचन एवं भोजन विषाक्त होने से स्वास्थ्य के लिये भी घातक होता है,

क्योंकि सूर्य के प्रकाश में पराबैंगनी किरणों से जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है।

पानी छानकर पीना- पानी छानकर पीना न केवल वैज्ञानिक, स्वास्थ्य विज्ञान और स्वच्छता, आगम के अनुरूप है, अपितु समूची सृष्टि के प्रति करुणा और मैत्री का संदेश है, क्योंकि वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया है कि एक बूंद अनछने जल में 36450 जीव होते हैं, जिनकी रक्षा हेतु जैनागम पानी छानकर पीने की बात कहता है, क्योंकि जैनाचार्यों का उन असंख्यात जीवों के प्रति करुणा का भाव है।

जैन धर्म के सिद्धान्त अत्यन्त व्यावहारिक ही नहीं, अपितु वैज्ञानिक एवं तर्क सम्मत हैं। वाशिंगटन के वर्ल्ड वॉच संस्थान ने सिद्ध किया है कि साफ और सुरक्षित पानी पीने से मानव अधिक समय तक जीते हैं।

जैन धर्म और शरीर विज्ञान- जैन परम्परा में शरीर विज्ञान के अंतर्गत स्थूल शरीर के निर्माण की जो प्रक्रिया बताई गई है, वह प्रक्रिया हमारे जैनाचार्यों ने हजारों वर्ष पहले ही बता दिया था, वही आज Geology, Biotechnology और Genetic Engineering में पढ़ाया जा रहा है। आधुनिक विज्ञान में जो Genetic Engineering है, वह आगम में प्रतिपादित शरीर पर्याप्ति से संबन्धित है। शरीर पर्याप्ति ही जीन्स और Cromosomes का निर्माण है, जब genes & cromosomes विकसित होते हैं, तभी शरीर विकसित होता है, अर्थात् आगम में प्रतिपादित 6 पर्याप्ति ही आधुनिक genes & cromosomes की मान्यता है।

इस दृष्टिकोण से युवा पीढ़ी को जैन दर्शन का अध्ययन, अनुसंधान करना चाहिये ताकि हम समाज तक यह बातें पहुंचाने में सफल हो जायेंगे कि जो आज विज्ञान कह रहा है, वह बात जैन दर्शन में पहले ही कही जा चुकी है।

आधुनिक विज्ञान की खोज से यह शरीर पुष्ट होता है, जबकि वीतराग विज्ञान से आत्मिक सुख मिलता है। लोक व्यवहार में कहा जाता है- जब शरीर रोगी, बूढ़ा अथवा मरण को प्राप्त होगा, तब कौन काम

आएगा? तब तो विज्ञान ही काम आएगा; लेकिन आचार्य कहते हैं कि जिनवाणी का एक अक्षर भी परम्परा से मोक्ष का कारण बनता है, क्योंकि वह आत्मिक विज्ञान है।

जैन कर्म सिद्धान्त और विज्ञान- जैन दर्शन कर्म को केवल एक भावात्मक संस्कार नहीं कहता है, बल्कि भौतिक (पौद्गलिक, जड़ात्मक, रासायनिक, जैन रासायनिक) संस्कार (संश्लेष बंधन संयोग) भी मानता है। जिस समय में जीव अज्ञान, ईर्ष्या, काम-क्रोधादि के वशीभूत होकर मन, वचन या काय से कार्य करता है, उस समय जीव के सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में परिस्पंदन होता है, उस परिस्पंदन से आकर्षित होकर सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त कर्म वर्गणायें आकर्षित होकर आती हैं। इसको कर्मास्रव कहते हैं। यह कार्मण वर्गणा भौतिक (पौद्गलिक परमाणुओं के समूह स्वरूप) होती हैं।

राग-द्वेषादि कषाय भाव से आकर्षित हुई कर्म वर्गणायें आत्मा के असंख्यात प्रदेश में संश्लेष रूप से मिल जाती हैं, इसको कर्मबंध कहते हैं। जैसे धन विद्युत् एवं ऋण विद्युत् से आवेशित होकर लौहखण्ड, चुंबक रूप जब परिणमन करता है, तब स्वक्षेत्र में स्थित योग्य लौहखण्ड को आकर्षित करता है, उसी प्रकार राग (धनात्मक आवेश, आसक्ति, आकर्षण) द्वेष (ऋणात्मक आवेश, विद्वेष, विकर्षण) से आवेशित होकर जीव भी स्वयोग्य कार्मण वर्गणाओं को आकर्षित करके स्वप्रदेश में संश्लेष रूप से बांधता है।

जैन कर्म सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप से आधुनिक मनोविज्ञान है, कर्म के संस्कार आत्मा से किस तरह जुड़ते हैं, कषाय युक्त प्रवृत्तियों का मन पर किस तरह असर पड़ता है, इनका विवेचन हमें जैन धर्म सिद्धान्त ग्रन्थों से मिलता है। आधुनिक मनोविज्ञान में निरूपित 14 मूल प्रवृत्तियाँ हैं, वे मोहनीय कर्म के 28 प्रकृतियों के परिवार में पूरी तरह फिट हो जाती हैं। जितने भी मानसिक विकार हैं, वे मोह की संतान हैं। आचार्य नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती द्वारा रचित **गोम्मटसार ग्रंथ** में कर्म सिद्धान्त को पूर्णतः गणितीय रूप में प्रस्तुत किया है, जिसे जैन कर्म सिद्धान्त का एक सर्व विकसित स्वरूप कहा जाता है।

जैन धर्म और गणित विज्ञान- हमारे जैनाचार्यों ने शून्य व दशमलव पद्धति का आविष्कार किया। यदि दशमलव पद्धति और शून्य का आविष्कार नहीं होता है तो गणित व विज्ञान का विकास भी नहीं होता। आचार्य महावीर ने 'गणितसार संग्रह' में लघूत्तम समापवर्त्य, दीर्घवृत्त, अंकगणित, त्रिकोणमिति, बीजगणित, पाई आदि का वर्णन किया है, जिसे आधुनिक गणितज्ञ बाद में सिद्ध करते हैं। जैनाचार्यों का आध्यात्मिक ज्ञान एवं उपलब्धि, महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक सिद्धांतों से समन्वित है।

पुण्य पाप की अवधारणा एवं आधुनिक विज्ञान- हम सभी जानते हैं कि पत्थर हाथ से छूटने के बाद नीचे गिरता है, क्योंकि पत्थर, साधारण वायुमण्डल से भारी होता है एवं वह गुरुत्वाकर्षण शक्ति से आकर्षित होकर नीचे गिरता है। जबकि हाइड्रोजन गैसे से भरा बैलून हाथ से छूटने पर ऊपर उड़ता है, क्योंकि हाईड्रोजन गैस से भरा बैलून साधारण वायुमण्डल से 14वां भाग हल्का होता है। एक बैलून का वजन सामान्य वायुमण्डल के समान होगा तो वह बैलून हाथ से छूटने पर ऊपर या नीचे न जाकर उसी स्थान में रहेगा। यहां एक बैलून विशेष, एक व्यक्ति के माध्यम से गुरुत्वाकर्षण की शक्ति को पराभूत करके आगे बढ़ेगा, तो जहाँ तक गति माध्यम है वहां तक गमन करेगा अर्थात् लोकाग्र के शिखर तक जा पहुंचेगा। इसी प्रकार पाप कर्मों (अशुभ वर्ण, अशुभ स्पर्श, अशुभ गंध, अशुभ रस) के भारी होने के कारण पापी जीव वजनदार हो जाता है, जिससे पापी जीव का पतन होता है। नरक योग्य पाप से प्रथम नरक में, उससे अधिक पाप से दूसरे नरक में इसी प्रकार उत्तरोत्तर पाप की वृद्धि होने से नीचे-नीचे सप्तम नरक तक पतित होता है।

इसी प्रकार पुण्य परमाणु (शुभ स्पर्श, शुभ रस, शुभ गंध, शुभ वर्ण) हल्का होने से पुण्य सहित जीव विश्व के ऊपर की ओर गमन करता है। स्वर्ग के योग्य जीव सामान्य पुण्य से प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न होता है। उसी प्रकार उत्तरोत्तर पुण्य की वृद्धि से सर्वार्थसिद्धि तक में उत्पन्न होता है। पुण्य-पाप से जब जीव आध्यात्मिक प्रक्रिया से सर्वथा भिन्न हो जाता है, तब वह जीव सम्पूर्ण बंधन को तोड़कर सीधी ऊर्ध्वगति से गति

माध्यम द्रव्य का जहां तक अस्तित्व है, अर्थात् लोकाग्र शिखर में जाकर अनंत काल तक स्थिर हो जाता है।

जैन धर्म एवं पर्यावरण विज्ञान- जैन धर्म में स्वीकृत सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, संतोष, शाकाहार, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, समिति, गुप्ति, लेश्या, संयम, समता, व्यवहार तथा आत्म आलोचना आदि जीवन मूल्यों के द्वारा ही पर्यावरण को शुद्ध रखा जा सकता है। जैन दर्शनानुसार षट्काय के जीवों की रक्षा तथा राग-द्वेष, मोह, व्यसन, लेश्या जैसी दुष्प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करने से ही पर्यावरण की रक्षा की जा सकती है। जिसे आज आधुनिक विज्ञान भी स्वीकार कर रही है।

जैन षट्द्रव्य सिद्धान्त एवं आधुनिक विज्ञान- आधुनिक विज्ञान ने जो हमें निष्कर्ष दिए हैं, उनसे धर्म के अनेक सिद्धान्त प्रमाणित होते जा रहे हैं। उदाहरण के लिये- वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में द्रव्य की 'उत्पाद-व्यय-धौव्ययुक्तं सत्'। यह परिभाषा स्वीकार हो चुकी है।

जिस लोक में हम निवास करते हैं, वह 6 द्रव्यों से व्याप्त है। वे 6 द्रव्य निम्न हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। इनमें जीव द्रव्य चेतन रूप है और शेष 5 द्रव्य अचेतन रूप हैं। यद्यपि 6 द्रव्यों की सत्ता पृथक-पृथक है और उनके सभी कार्य भी स्वतंत्र हैं। सभी द्रव्य परस्पर सापेक्ष और एक दूसरे से संबद्ध हैं।

१. जीव द्रव्य- जैन दर्शन में प्रतिपादित जीव के लक्षण एवं आसाधारण भाव को आज के आधुनिक विज्ञान में कतिपय मान्यता मिली है। जैन दर्शन में स्थावर काय जीव (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति) में जीवों की मान्यता पूर्णतः मौलिक और अद्वितीय है। आज से पूर्व में जैन धर्म में प्रतिपादित स्थावर काय के जीव और उनमें चेतना की मान्यता को विज्ञान स्वीकार नहीं करता था, परन्तु आज विज्ञान ने स्वयं सिद्ध कर दिया है कि स्थावर काय के जीव भी चेतन हैं।

२. पुद्गल द्रव्य- जिस द्रव्य में संयोजन और वियोजन की क्षमता होती है, वह जैन दर्शन में पुद्गल कहलाता है। आधुनिक विज्ञान में रेडियोएक्टिव घटना में विकिरणों द्वारा उत्सर्जन या अवशोषण की क्रियायें होना पूरण और गलन के उदाहरण हैं। जो जैन दर्शन में पुद्गल कहलाते

हैं।

३. धर्म द्रव्य– धर्म द्रव्य चेतन और अचेतन पदार्थ के गति में सहायक द्रव्य है। जैसे मछली को तैरने के लिये जल सहायक है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी पंचास्तिकाय में धर्म द्रव्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं– धर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्याप्त अमूर्तिक द्रव्य है, जो जीव के आगमन, गमन, बोलना, मनोयोग, वचनयोग, काययोग, मनोवर्गणाओं और भाषा वर्गणाओं के अति सूक्ष्म पुद्‌गलों को प्रसारित होने में निमित्त कारण बनता है।

वैज्ञानिकों ने प्रकाश का वेग ज्ञात करते समय एक अखण्ड सर्व व्याप्त द्रव्य जो कणों को चलाने में सहायक माध्यम है, उसे **ईथर** के नाम से जाना है। ईथर और धर्म द्रव्य के गुणों में साम्यता देखी गई है, दोनों अमूर्तिक, भार सहित, निष्क्रिय और केवल सहायक है।

४. अधर्म द्रव्य– अधर्म द्रव्य चेतन और अचेतन पदार्थ के स्थिति में सहायक द्रव्य है। जैसे– पथिक के लिये वृक्ष की छाया। अधर्म द्रव्य भी एक अखण्ड लोक में परिव्याप्त, घनत्व रहित, अभौतिक, अपरमाण्विक पदार्थ है। आधुनिक विज्ञान में इसकी तुलना गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र से की है। गुरुत्वाकर्षण से वस्तु में स्थिरता आती है।

५. आकाश द्रव्य– जीव और पुद्‌गल द्रव्यों को अवगाह देना आकाश द्रव्य का कार्य है। जैन दार्शनिकों ने आकाश द्रव्य को एक स्वतंत्र द्रव्य माना है। यह दो प्रकार का है– 1. लोकाकाश 2. अलोकाकाश। जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, काल इन 5 द्रव्यों को केवल लोकाकाश में स्थान है अलोकाकाश में नहीं। वैज्ञानिक आइन्स्टीन का समस्त आकाश अवगाहित सिद्धांत 'विश्व–आकाश' अर्थात् लोकाकाश की मान्यता करता है, जबकि D-Sector का 'विश्व आकाश' जो संपूर्ण रूप से शून्य है, पदार्थ रहित है, वह अलोकाकाश की मान्यता है।

६. कालद्रव्य– जैन दर्शन के अनुसार काल द्रव्य अकायवान है तथा जो पदार्थों के परिणमन में केवल सहायक है। जैन दर्शन में प्रतिपादित काल के अकायत्व का समर्थ आइन्स्टीन ने किया है। जिन घटनाओं के द्वारा हम समय को मापते हैं, उन घटनाक्रम में काल द्रव्य का

अस्तित्व होता है।

इस तरह जैन दर्शन और विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है। धर्म के पीछे भी विज्ञान, तर्क, युक्ति, कारण रहे हैं। आज समय आ गया है कि हमें धर्म और विज्ञान का तुलनात्मक अनुसंधान करना चाहिये ताकि धर्म की तरह विज्ञान भी सम्यक्ज्ञान की आराधना बन सके।

वैज्ञानिक सिद्धांत अपूर्ण उत्पन्न होते हैं, फिर नष्ट हो जाते हैं एवं परिवर्तित भी हो जाते हैं। समय के अनुकूल वैज्ञानिक सिद्धान्त कैसे परिवर्तित होते हैं। उसके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं-

1. पेटोलोमि का सिद्धांत- पृथ्वी स्थिर है एवं सूर्य भ्रमणशील है। बाद में 'कोपरनिकस' का नवीन सिद्धान्त बना- पृथ्वी भ्रमणशील है, सूर्य स्थिर है। वैज्ञानिक लोग पूर्व में पृथ्वी को स्थिर मानते थे, पुनः भ्रमण शील मानने लगे। आज आइन्स्टीन के सापेक्ष सिद्धान्तानुसार रचित पृथ्वी तथा सूर्य स्थिर है और भ्रमणशील है। आइन्स्टीन का सापेक्ष सिद्धांत प्रत्येक आकाश पिण्ड को सापेक्ष से गतिशील मानते हैं।

2. जिस प्रकार कोलम्बस ने एक भूभाग की खोज करके, उसे भारत कहा, परन्तु वह यथार्थ भारत नहीं था, वह दक्षिण अमेरिका का भूभाग था। बाद में वास्कोडिगामा ने भारत को ढूंढा। क्या जब तक यूरोपियन लोगों ने भारत की शोध नहीं की थी, तब तक भारत का अस्तित्व नहीं था। अवश्य था, क्योंकि भरत क्षेत्र तो अनादि काल से है। अतः जब तक आधुनिक लोग शोध-बोध से जिसको आविष्कार द्वारा नहीं जान पाए, तो क्या सत्य मिट सकता है, कदापि नहीं।

3. सन् 1906 में वैज्ञानिक डॉ. जगदीश चन्द्र बसु ने वैज्ञानिक पद्धति से वनस्पति को जीव सिद्ध किया, तब से वनस्पति को वैज्ञानिक जीव मानने लगे, परन्तु जैनधर्म में तो अनादिकाल से वनस्पति को स्पष्ट रूप से एकेन्द्रिय जीव कहा है।

4. पहले वैज्ञानिक केवल पृथ्वी पृष्ठ पर ही जीवन मानते थे, परन्तु उड़न तश्तरी के कारण से आज अन्य जगह पर भी जीवन मानने लगे हैं। ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, नक्षत्रमण्डल, धूमकेतु, उल्कापिंड आदि के बारे

में भी वैज्ञानिकों ने कुछ वर्षों से ही जाना है, परन्तु हमारा जैनधर्म तो इनका अस्तित्व ज्योतिषी देवों के रूप में अनादिकाल से मानता आया है।

5. पहले वैज्ञानिक प्रकाश और अंधकार को केवल शक्ति मानते थे, बाद में आइन्स्टीन के सिद्धान्त $E=mc^2$ के अनुसार प्रकाश को द्रव्य मानने लगे, क्योंकि इस सिद्धांतानुसार जहाँ द्रव्य है, वहां पर शक्ति भी है; परन्तु जहाँ पर शक्ति है, वहां पर द्रव्य भी है। अर्थात् द्रव्य एवं शक्ति अभिन्न हैं। इस प्रकार प्रकाश केवल शक्ति है वह सिद्धान्त भ्रांत सिद्ध हो गया, क्योंकि जैन दर्शन प्रकाश और अंधकार को पुद्गल द्रव्य मानता है। वे पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

6. पहले वैज्ञानिक जिस अणु को अविभाज्य मानते थे, वही अणु आगे जाकर इलेक्ट्रॉन व प्रोटॉन, न्यूट्रॉन व क्वार्क में विभाजित हो गया।

7. पहले वैज्ञानिक रसायन शास्त्र में भौतिक तत्त्व 85 मानते थे, बाद में 105 भी मानने लगे।

8. वर्तमान आधुनिक युग में आकाश मार्ग में गमन करने के लिये विज्ञान में विभिन्न प्रकार के हेलीकॉप्टर, रॉकेट आदि वायुयान दिये हैं। वायुयान का आविष्कार 'राइट ब्रदर्स' ने किया था; लेकिन प्राचीन काल में भी अत्यन्त द्रुतगामी विराट्, वृहत् एवं क्षुद्र वायुयान होते थे। रावण का पुष्पक विमान वृहत् वायुयान था, जिसका निर्माण भगवान् मुनिसुव्रतनाथ के काल में हो चुका था। यह पुष्पक विमान एक योजन (12km) लम्बा और आधा योजन (6km) चौड़ा था। इसमें लाखों मनुष्य, हजारों हाथी, घोड़े, शस्त्र, बगीचा, व्यायामशाला, तालाब आदि होते थे। समयानुसार गमनागमन के लिये अथवा आकाश मार्ग में युद्ध करने के लिये पुष्पक आदि विमानों का उपयोग किया जाता था।

9. आधुनिक विज्ञानानुसार 7 रंग होते हैं। उदाहरण- यदि किसी अंधेरे कमरे में किसी सूक्ष्म छिद्र से प्राप्त होने वाले सूर्य के प्रकाश को प्रिज्म में से गुजारा जाए तो वह प्रकाश बैगनी, जामुनी, नीला, हरा, पीला, नारंगी, लाल रंगों में विभक्त हो जाता है और इन रंगों का सम्मिलित रूप ही श्वेत प्रकाश है; परन्तु जैन दर्शन इन 7 रंगों को लाल, नीला, पीला, काला, सफेद इन 5 रंगों में ही समाहित मान लेता है। इसलिये जैन-ध्वज

में 5 रंग विद्यमान होते हैं।

10. आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से जैव जगत् में अभी तक सूक्ष्म जीव, जीवाणु Bacteria एवं विषाणु virus होते हैं। इन सूक्ष्म जीवों की तुलना जैनागम में वर्णित निगोदिया जीवों से की जावे तो कुछ समानतायें मिलती हैं। Bacteria का शरीर अण्डाकार, गोल या लम्बा होता है। इसी प्रकार virus आयताकार शरीर को धारण करते हैं। आश्चर्य है कि प्राचीन काल में सूक्ष्मदर्शी यंत्र नहीं थे। फिर भी जैनाचार्यों ने इतने सूक्ष्म जीवों की विस्तृत विवेचना की थी।

11. रेडियो/टेलीग्राम, टेलीप्रिंटर बेतार का तार, ग्रामोफोन और टेप रिकार्डर, मोबाइल आदि अनेक यंत्र विज्ञान के चमत्कार माने जाते हैं, पर इनके मूलभूत सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करने पर ज्ञात होता है कि यह शब्द की अद्भुत शक्ति और तीव्रगति का ही परिणाम है और शब्द पुद्गल की ही पर्याय है।

12. **Television का सिद्धांत**- जैन दर्शन कहता है कि विश्व के प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ से प्रतिक्षण प्रतिच्छाया निकलती रहती है और पदार्थ के चारों ओर बढ़कर विश्व में फैल जाती है। जहाँ उसे प्रभावित करने वाले पदार्थों दर्पण, जल आदि का संयोग होता है, वहाँ पर प्रभावित भी होती है। Television का आविष्कार इसी सिद्धान्त का उदाहरण है। अतः televison का अन्तर्भाव पुद्गल की छाया नामक पर्याय में किया जाना चाहिए।

13. वैज्ञानिक न्यूटन ने 20 वर्ष पूर्व गुरुत्वाकर्षण की खोज की; परन्तु जैन दर्शन में भास्कराचार्य जी ने कई हजार वर्ष पहले भूमि की आकर्षण शक्ति के बारे में कहा था।

14. आधुनिक विज्ञान के एक नये आविष्कार एस्केलेटर के द्वारा मानव कुछ सेकण्ड में ही 20-25 सीढ़ियां चढ़ जाता है। जबकि जैन दर्शनानुसार एक सम्यक्दृष्टि, भव्य जीव अरहंत केवली भगवान् के समवसरण में पहुंचने के लिये 20 हजार सीढ़ियां पलभर में चढ़ जाता है।

15. वैज्ञानिक आर्कमिडीज ने प्लावन सूत्र, आयतन सूत्र प्रतिपादित किया था, जबकि जैन दर्शन में 3000 वर्ष पूर्व राजा श्रेणिक के पुत्र

अभयकुमार ने हाथी का वजन करने के लिये आयतन सूत्र का आविष्कार कुछ गरीब ब्राह्मणों की रक्षा के लिये किया था।

इस प्रकार आधुनिक विज्ञान सत्य व अधूरे मार्ग से है। अपूर्ण सत्य है एवं परिवर्तनशील सिद्धान्त है। वैज्ञानिक भी परम वास्तविकता से बहुत परे हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्त पूर्ण सत्य नहीं होने के कारण अनेकों बार परिवर्तित होते रहे हैं। अब विज्ञान सत्य की ओर कदम-कदम बढ़ रहा है।

सर्दी-गर्मी, हवा-नर्मी, धूल-प्रकाश, ध्वनि-ऊर्जा, अंधकार-प्रकाश, खुशबू-बदबू, अनुकूल-प्रतिकूल, श्वांस-प्रतिश्वांस, एलर्जेन्स सभी पुद्‌गल की भिन्न-भिन्न वर्गणायें हैं। ये जैन विज्ञान का महत्त्वपूर्ण चिंतन क्षेत्र बनाती हैं।

हमारे सभी सिद्धान्तों की दिव्याथा पुनः प्रांजल रूप से आलोकित होकर वैज्ञानिक युग में धर्म की भूमिका का महत्त्व बताकर वर्तमान पीढ़ी व भावी पीढ़ी को सत्पथ में स्थित करेगी तथा भविष्य को एक अमूल्य कोष संपूर्णता के साथ धरोहर स्वरूप प्रदान करेगी और इसी प्रकार जैनधर्म की दिव्यध्वनि लोकाकाश व दिग्-दिगन्त में अपना दिव्य धर्म-ध्वज फहराएगी।

जैनधर्म के सिद्धान्त जीवन की प्रयोगशाला में परखे गये हैं, जो कि अकाट्य हैं और आज भी उनकी उपादेयता है। विज्ञान ने मानव को ज्ञान दिया है, यह सत्य है, परन्तु मनुष्य धर्म के अभाव में विवेक शून्य हो गया है और विवेक रहित ज्ञान से अणुबम और उद्‌जन बम का निर्माण करके उसी ने मानवीय संस्कृति पर कुठाराघात किये। इसका सारा दोष विज्ञान को थोपा गया। ज्ञान के साथ विवेक की अनिवार्यता को भूलने से शक्ति तो बढ़ गई, परन्तु शान्ति नष्ट हो गई। शांति के लिये विज्ञान और धर्म के समन्वय की आवश्यकता है।

अन्त में मैं यही कामना करती हूँ कि हम सब अपने सिद्धान्तों के प्रति नतमस्तक होते हुए आस्थावान् रहें तथा प्रतीक्षा करें उस पल की जब तक आचार्यों द्वारा वर्णित एक-एक सिद्धान्त को मूर्त्तरूप प्रदान होवे। तब तक निष्ठावान् एवं दृढ़ संकल्प से जिनशासन के सम्यक्‌दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्‌चारित्र को अपने जीवन का अंग बनायें।

संदर्भ
1. धर्म दर्शन एवं विज्ञान- आचार्य कनकनंदी
2. छहढाला- पं. दौलतराम जी
3. जैन विज्ञान एवं आधुनिक विज्ञान- प्रो. लक्ष्मीचंद जैन
4. जैन दर्शन और विज्ञान- डॉ. महेन्द्र मुनि जी
5. जैन भौतिकी विशेषांक, तीर्थंकर पत्रिका- संपादक, डॉ. नेमिचंद जैन
6. जैन विज्ञान संगोष्ठी- गुना
7. जैन विज्ञान संगोष्ठी- झांसी

- 44, भाग्यश्री कालोनी,
श्री दिगम्बर जैन पंचबालयति मंदिर के पीछे,
विजयनगर, इन्दौर (म.प्र.)

******

विख्यात जैन कवि कैलाश मड़बैया पद्मश्री से अलंकृत

16 मार्च 2019 को राष्ट्रपति भवन में महामहिम राष्ट्रपति श्री रामनाथ कोविंद जी ने ख्यातिलब्ध कवि श्री कैलाश मड़बैया (जैन), भोपाल को साहित्य के क्षेत्र में देश के गौरवपूर्ण सम्मान पद्मश्री से एक भव्य समारोह में अलंकृत किया था और प्रधानमंत्री एवं गृहमंत्री ने उन्हें बधाई दी। यह वही कैलाश मड़बैया जी हैं, जो अतिशय जैन तीर्थ बानपुर (उ.प्र.) के जैन परिवार में 75 वर्ष पहले स्व. श्री भैयालाल जैन मड़बैया एवं श्रीमती पत्ती जैन मड़बैया के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में 25 जून 1943 को जन्मे थे और जैन सस्कारों में बानपुर के बाद वर्णी जैन इण्टर कालेज ललितपुर में शिक्षा दीक्षा हुई थी। बाद में म.प्र. की प्रशासनिक सेवाओं में आ गये और 2003 में ज्वायण्ट कमिश्नर कोआपरेशन पद से सेवानिवृत्त हुये थे। इन्होंने लगभग 50 ग्रंथ लिखे, जिनमें प्रकाशित हैं लगभग 3 दर्जन।

1958 में उन्होंने पहली कविता लिखी थी- 'लै लेव कलेवा मैं ठाँड़ी पिया' जो अब लोकगीत बन गई और वर्तमान में हिन्दी-बुंदेली के श्रेष्ठ कवि के रूप में ख्यात हैं, जिन्होंने बुन्देली भक्तामर भी रचा था। मड़बैया जी के साहित्य पर जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर में अनुसंधान भी हुआ और एक शोध शिक्षक को पीएच. डी. भी अवार्ड की गई। कई लघु शोध प्रबंध भी इन पर हुये। इन्होंने देश के सर्वश्रेष्ठ मंचों पर काव्य पाठ तो किया ही, संसार के अनेक देशों यथा अमेरिका, इंग्लैण्ड, जापान, नेपाल, दुबई, सिंगापुर आदि दस देशों में काव्य पाठ कर भारत का नाम रोशन किया। उक्त सुखद खबर से जैन जगत् में खुशी की लहर दौड़ गई और मध्यदेशीय समाज ने तो आदिनाथ जयन्ती पर इन्हें 'जैन समाज रत्न' से अलंकृत भी किया। पद्मश्री अलंकृत होने के तुरन्त बाद ही दिल्ली की जैन समाज ने और आचार्य ज्ञानसागर जी ने उन्हें अभिनन्दित किया एवं बड़ागाँव जैन तीर्थ कमेटी ने अभिनन्दन पत्र, जिनालय नन्दीश्वर द्वीप व साहित्य, अंगवस्त्र आदि भेंट किये। इसके साथ ही भोपाल में साहित्य संसार, कायस्थ समाज, स्वर्णकार समाज एवं वैश्य समाज आदि ने लौटने पर भव्य स्वागत किया।

इसके साथ ही ललितपुर में उत्तर-प्रदेश के केबिनेट मंत्री श्री मनोहरलाल जी पंथ एवं विधायकगणों के नेतृत्व में श्री कैलाश मड़बैया जी का अभिनन्दन किया एवं 'बुन्देलखण्ड रत्न' की उपाधि से अलंकृत किया। जबलपुर में 11 प्रमुख संस्थाओं ने भी भव्य अभिनन्दन किया। वीर सेवा मन्दिर परिवार की ओर से आपको अनन्त शुभकामनाएं।

-डॉ. आलोक कुमार जैन

******

जैन गौरव विख्यात कवि श्री कैलाश मड़बैया पद्मश्री पुरस्कार से अलंकृत

Year-72, Volume-3
July - Sept. 2019

RNI No. 10591/62
ISSN 0974-8768

वीर सेवा मंदिर

(जैनदर्शन शोध संस्थान)

Vir Sewa Mandir

(A Research Institute for Jainology)

21, अंसारी रोड़ दरियागंज, नई दिल्ली-1100 02
21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002
फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522 E-mail-virsewa@gmail.com

प्रकाशक एवं मुद्रक : श्री भारतभूषण जैन, एडवोकेट, वीर सेवा मंदिर 21, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002 से प्रकाशित एवं शकुन प्रिन्टर्स, 241, पटपड़गंज इण्डस्ट्रियल एरिया, दिल्ली- 110 092 से मुद्रित।